




सवाल है उनकी ज़िन्दगी का जो खेतों में मेहनत करते हैं

जया मेहता | विनीत तिवारी | रोशन नायर

जोशी-अधिकारी इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल स्टडीज़

सवाल है उनकी ज़िन्दगी का जो खेतों में मेहनत करते हैं जया मेहता | विनीत तिवारी | रोशन नायर जोशी-अधिकारी इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल स्टडीज़



सवाल है उनकी ज़िन्दगी का जो खेतों में मेहनत करते हैं

जया मेहता | विनीत तिवारी | रोशन नायर

जोशी-अधिकारी इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल स्टडीज़

सवाल है उनकी ज़िन्दगी का जो खेतों में मेहनत करते हैं

लेखक

जया मेहता, विनीत तिवारी एवं रोशन नायर

प्रथम संस्करण : दिसम्बर 2010

प्रतियाँ : 1000

सहयोग : 25 रुपये

आवरण व स्वरूप: रजनीश श्रीवास्तव

प्रकाशक

जोशी-अधिकारी इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल स्टडीज़

4, विंडसर प्लेस, अशोक रोड, नई दिल्ली - 110002

फोन: 011-23711732 | ईमेल: joshiadhikari@gmail.com

मुद्रक

आंकलन सॉफ्टवेयर, दिल्ली

इस पुस्तिका पर कोई कॉपीराइट सुरक्षित नहीं है। आप इस पुस्तिका या इसके किसी अंश का जन-जागरूकता बढ़ाने के उद्देश्य से प्रयोग कर सकते हैं। स्रोत का उल्लेख करेंगे तो हमें प्रसन्नता होगी।

भूमिका

तक़रीबन दो वर्ष पहले हमने ज़मीनी सर्वेक्षण कर आँकड़े और तथ्य इकट्ठे करने की कवायद शुरू की थी। इस कवायद का मक़सद खेती की बदहाली के बारे में हमारी अपनी समझ साफ़ करना और अपने नज़रिये को ज़मीन पर जाँचना तो था ही, साथ ही हम इन तथ्यों व आँकड़ों के ज़रिये खेती की बदहाली को दूर करने के सुझाव भी ढूँढ़ रहे थे जिनसे इस बदहाली को ख़त्म करने की दिशा में कोई कार्यक्रम उभर सके। हमारे पास संसाधन सीमित थे और वो सीमित ही बने रहे। यह बहुत बड़ा काम था। खेती शब्द से जो दृश्य उभरता है उसमें किसान, मज़दूर, ज़मीन, पानी, बीज, फसल, प्रकृति आदि सभी चीज़ें एक-दूसरे में उलझी हुई दिखती हैं। खेती के अध्ययन का दायरा बहुत विशाल है और अलग-अलग तबकों में बँटा हुआ है। जिन आधिकारिक एजेंसियों के पास संसाधनों और विशेषज्ञता की कोई कमी नहीं है, वे इस विषय पर भारी-भरकम रिपोर्टों का उत्पादन करती रहती हैं। कभी-कभी तो हमें उन रिपोर्टों को देख हैरत होती थी। वो हमें डिक्शनरी के माफ़िक लगती थीं। जैसे डिक्शनरी में सब-कुछ सही होता है और लगभग सभी कुछ उसमें शामिल भी होता है, लेकिन फिर भी डिक्शनरी से भाषा नहीं बनती। वैसे ही उन रिपोर्टों के तथ्यों और आँकड़ों से जीवन की वास्तविकता की कोई शक़ल नहीं उभरती।

दो वर्षों के इस बेहद थका देने वाले काम के बाद जया मेहता और उनके साथी इस संक्षिप्त दस्तावेज़ को सामने लाये हैं, जो न केवल तथ्यों और विश्लेषणों के आधार पर बहुत समृद्ध है बल्कि सिद्धांत और अमल को जोड़ने के बारे में भी कुछ सुझाव रखता है।

सत्ताईस वर्ष पहले अरविंद दास ने बिहार की कृषि में उभरे असंतोषों पर केन्द्रित अपने बेहतरीन शोध-ग्रंथ “एग्रेरियन अनरेस्ट एण्ड सोशियो-इकॉनॉमिक चेंज इन बिहार, 1900—1980” की भूमिका में एक बात का उल्लेख किया था जो मुझे हमेशा याद रहती है। अपने अध्ययन में किसी न किसी प्रकार सहयोगी हुए सभी लोगों का आभार मानने के बाद उन्होंने अंत में लिखा था;

“और सबसे अंत में मैं पूर्णिया ज़िले के बनमंखी गाँव के ग़रीब मुसहर किसान भूकन ऋषिदेव को याद करता हूँ जिसने कहा था, ‘सब त बात सइत जाइत, किताब निकल जाइत, हमरा कि होइत’ (सारी बातें ख़त्म हो जाएँगी, एक किताब निकल जायेगी, लेकिन हमारा क्या होगा)। उसके सवाल ने मुझे बेचैन कर दिया। इसलिए मैं उसका आभार नहीं मान सकता। बस उसे याद करता हूँ।”

ये एक चेतावनी भी है और संदेश भी। जिन शोध अध्ययनों का मक़सद सिर्फ़ शोध और अध्ययन करना ही होता है, क्या हम उन्हें पार करके यह कह सकते हैं कि ये शोध सिर्फ़ शोध के लिए नहीं हैं बल्कि इसमें एक साथ उठाये जाने वाले एक छोटे-से कदम की उम्मीदें हो सकती हैं। क्या हम इस अध्ययन की उस साझी कार्यवाही में कोई भूमिका सोच सकते हैं जो देश की परेशानहाल किसान आबादी के हक़ में हो। खाते-पीते शासक वर्ग ने पीड़ित किसान-मज़दूर तबक़े के सामने आत्महत्याओं को ‘आख़िरी समाधान’ के तौर पर थोप दिया है। क्या हम इस अध्ययन से ये उम्मीद कर सकते हैं कि वो इस तबक़े की एकजुट और साझा कार्यवाही में, पूँजीवादी शासक वर्ग द्वारा थोपे गए ‘आख़िरी समाधान’ को ध्वस्त करने में, और मिलजुल कर एक नये रास्ते की तलाश में उपयोगी हो सकता है।

अध्ययन के कुछ रुझान आपके सामने हैं। इस पर विचार करें और इसकी भूमिका तय करें।

एस.पी. शुक्ला

05.12.2010

अनुक्रम

प्रस्तावना	01
ज़मीन का सवाल	05
सिंचाई और फसल का चयन	16
सीमांत किसानों की उपज और बाज़ार में उनकी स्थिति	24
खेती से आमदनी, अन्य आमदनी और कर्ज़	39
साझा उत्पादन आधार की ज़रूरत	45



ये तस्वीर 1945 में किसान सभा कॉन्फ्रेंस के लिये जाते पंजाब के झण्डीवाला गाँव के किसानों की है। यह तस्वीर सुनील जाना द्वारा ली गई थी जो 1940 के दशक में कम्युनिस्ट पार्टी के फोटोग्राफर थे। उनकी बंगाल के अकाल और भारत के ग्रामीण इलाकों की अनेक तस्वीरें दुनियाभर में प्रसिद्ध हुईं। सुनील जाना अब 92 वर्ष के हैं और कैलिफोर्निया में रहते हैं। किसान सभा की औरंगाबाद कॉन्फ्रेंस के लिए यह चित्र इस्तेमाल करने की उनके बेटे ने सहर्ष अनुमति दी है।

प्रस्तावना

जनवरी 2009 में जोशी-अधिकारी इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल स्टडीज़ ने देश के 8 राज्यों में सीमांत किसानों का एक अध्ययन शुरू किया था। अध्ययन का मक़सद था कि नयी तकनीकी और नये आर्थिक माहौल के सीमांत किसानों पर पड़ने वाले असर को समझा जा सके। खासतौर से उनके उत्पादन और अपनी उपज को बेचने के तौर-तरीकों में आये बदलावों को।

इस अध्ययन के तहत हमने हर राज्य के 4 ज़िलों को इस तरह चुना कि सीमांत किसानों द्वारा उगायी जाने वाली प्रमुख फसलें इसमें शामिल हो सकें। हर ज़िले में रेण्डम पद्धति से 4 गाँव चुने गए। हर गाँव में हमने करीब 150 परिवारों की सूची बनायी जिसमें हमने उनकी जाति, धर्म, उनकी खेती की ज़मीन और लगायी जाने वाली फसलों की कुछ बुनियादी जानकारियाँ इकट्ठी कीं। इन 150 परिवारों में से हमने 10 किसान परिवारों को चुनकर उनके बारे में और विस्तार से जानकारियाँ हासिल कीं। इन जानकारियों में इन किसान परिवारों के संसाधन आधार, उगायी जाने वाली फसलें, खेती की गतिविधियाँ, इस्तेमाल किये जाने वाले बीज, खाद, कीटनाशक आदि, उनकी उपज की बिक्री और उससे उन्हें होने वाली आमदनी के बारे में ब्यौरे शामिल थे। इस तरह हमने देश के 8 राज्यों के 15300 परिवारों को सूचीबद्ध कर उनकी कुछ मोटी जानकारियाँ, और 1050 किसान परिवारों की विस्तृत जानकारियाँ हासिल कीं। हमने गाँवों के इतिहास, वहाँ मौजूद आधारभूत सुविधाओं, गाँवों की आर्थिक-सामाजिक संरचना और उस गाँव में प्रमुख रूप से पैदा होने वाली फसलों के ब्यौरे भी इकट्ठा

किये। ज़मीनी सर्वेक्षण के काम किसान सभा की मदद से किये गए। हमारे सर्वेक्षक किसान सभा के सदस्य और स्थानीय तौर पर सक्रिय एक्टिविस्ट थे जो आम तौर पर उन्हीं क्षेत्रों के रहने वाले भी थे, जहाँ की जानकारियाँ उन्होंने एकत्रित कीं। जानकारियाँ स्थानीय भाषाओं में इकट्ठी की गईं। इन जानकारियों को इकट्ठा करने और हासिल जानकारियों व आँकड़ों का विश्लेषण करने के लिए एकशन एड, पीस, फोकस फॉर ग्लोबल साउथ और राजशेखर रेड्डी इंस्टीट्यूट ने आर्थिक व अन्य सहयोग दिया। इस सर्वेक्षण से प्राप्त हुई जानकारियाँ बहुत सघन हैं। हर ज़िले से हमारे सर्वेक्षकों ने अलग-अलग किसान परिवारों और गाँवों की खासियतों को स्पष्ट करने वाली टिप्पणियाँ अलग से लिखीं। ये सभी जानकारियाँ मिलकर गाँव की संरचना, अलग-अलग फसलों के अलग-अलग पहलुओं और विभिन्न क्षेत्रों के किसानों के अपनी आजीविका कमाने के तौर-तरीकों को गहराई से समझने में महत्वपूर्ण मदद करती हैं।

हालाँकि यह सर्वेक्षण 8 राज्यों के व्यापक दायरे में अनेक किसानों की जानकारियों को इकट्ठा करता है, फिर भी इसके सेम्पल का आकार इतना बड़ा नहीं है जिसके आधार पर पूरे राज्य या पूरे ज़िले के बारे में कोई सामान्यीकरण किया जा सके। हमें एक ऐसे सांख्यिकीय ढाँचे की आवश्यकता थी जिसमें हम इस सर्वेक्षण से प्राप्त जानकारियों को सही संदर्भ में देख-परख सकें, जो हमें नेशनल सेम्पल सर्वे ऑर्गेनाइज़ेशन (एनएसएसओ) के 59वें दौर के सर्वेक्षण नतीजों ने हासिल कराया। एनएसएसओ ने देश भर के किसानों, उनकी खेती व आजीविका, उनके उपभोग व कर्ज़ आदि पर जानकारियाँ इकट्ठा करने के लिए ये विशेष सर्वेक्षण किया था।

सीमांत किसान देश की कृषि व्यवस्था में कभी अपना जायज़ हक नहीं पा सके और इस नाते वो तादाद में बहुत ज़्यादा होते हुए भी व्यवस्था के हाशिये पर ही क़ैद बने रहे हैं। इस पुस्तिका में हमने उनकी संख्या, आकार, विभिन्नताओं, समानताओं, तकलीफ़ों और उम्मीद भरी ताक़त की एक तस्वीर रखने की कोशिश की है। सीमांत किसानों

का हमारा यह अध्ययन शुरू तो बुनियादी तौर पर खेती के मौजूदा संकट की कार्यप्रणाली, और उसमें ख़ासतौर से सीमांत किसानों के हालात समझने के लिए किया गया था लेकिन इसमें हमारी यह मंशा और कोशिश भी थी कि इसका इस्तेमाल किसानों के लिए सही माँगों की पहचान कर एक ठोस कार्यक्रम बनाने में हो सके।

इंसाफ़ और बराबरी पर आधारित समाज बनाने का संघर्ष एक व्यापक संघर्ष है। इस देश में खेती से जुड़े किसानों और मज़दूरों की विशाल आबादी को देखते हुए यह स्वाभाविक ही है कि इस संघर्ष में उनकी भूमिका बहुत अहम होगी। हमारी यह पुस्तिका किसान सभा के ऐसे ज़रूरी संघर्ष में हमारी एकजुटता के तौर पर प्रस्तुत है।

★ ★ ★ ★ ★

अध्ययन का दायरा

आंध्र प्रदेश	- अनंतपुर, कृष्णा, वारंगल, श्रीकाकुलम
बिहार	- रोहतास, मधुबनी, खगड़िया, कटिहार, मुजफ्फरपुर
केरल	- इडुक्की, त्रिशूर, कोझीकोड़, वायनाड़
मध्य प्रदेश	- सागर, उज्जैन, अनूपपुर, बैतूल
महाराष्ट्र	- बीड़, नासिक, रायगड़, अमरावती
पंजाब	- भटिण्डा, जालंधर, रोपड़
तमिलनाडु	- तिरुवन्नामलाई, सेलम, तिरुवारूर
पश्चिम बंगाल	- बीरभूम, बर्दवान, हुगली, मुर्शिदाबाद

ज़मीन का सवाल

सारा देश मानता है कि देश में कृषि संकट ख़तरनाक हदें पार कर चुका है। सरकार और उनके सलाहकार भी ये मानते हैं। लेकिन उनके मुताबिक खेती का संकट खेती की पैदावार, खेती की लागत, फसल के रोगों और कीड़ों का और बाकी तमाम बारीक चीज़ों का संकट है। जिनका आशय खेती के संकट से सिर्फ़ फसलों और तकनीक तक सीमित है। वो उस संकट से नयी तकनीक लाकर, पैदावार और उत्पादकता बढ़ाकर निपटना चाहते हैं; वो फल, फूल व ऐसी फसलें उगाने के लिए प्रोत्साहित करते हैं और उनके लिए सरकारी समर्थन जुटाते हैं जिनकी माँग विश्व बाज़ार में बहुत ज़्यादा है।

जबकि, खेती का संकट सबसे पहले और सबसे ज़्यादा दरअसल खेती में काम करने वाले और खेती के साथ जुड़ी हुई तमाम दूसरी गतिविधियों में लगे लोगों की ज़िंदगियों, उनकी रोज़ी-रोटी, और हाड़तोड़ मेहनत के बाद पैदा होने वाली फसल के बँटवारे का संकट है। इसलिए जब हम खेती के संकट की बात करते हैं तो सबसे प्रमुख सवाल उस संसाधन की उपलब्धता और बँटवारे का है जो खेती का सबसे मुख्य आधार है, और वो है - ज़मीन।

कम होती खेती की ज़मीन

दादरी, कलिंगनगर, पोस्को, रायगड़, प्लाचीमाड़ा, नंदीग्राम आदि कुछ ऐसे नाम हैं जहाँ किसानों ने अपनी ज़मीनों को बचाने के लिए लड़ाई लड़ी और तेज़ी से थोपे जा रहे औद्योगिकीकरण और शहरीकरण के खिलाफ़ ताक़त से खड़े हुए। ये नाम पूरे देश में किसानों के विरोध

के प्रतीक बने। लेकिन ऐसी असंख्य कहानियाँ इतनी चर्चा में नहीं आईं जहाँ खेती की ज़मीन स्थाई रूप से ग़ैर-कृषि इस्तेमाल के खाते में खिसका दी गई। ऐसे कुछ मामलों में किसानों ने विरोध भी किया और कुछ मामलों में उन्होंने अपनी मर्जी से भी अपनी ज़मीनें छोड़ीं।

ऐसी ही एक कहानी पाटनी पंडापुर गाँव की है, जो महाराष्ट्र के रायगढ़ ज़िले में समंदर किनारे पर बसा कुल 250 घरों की आबादी वाला गाँव है। यह गाँव अन्य पिछड़ा वर्ग में आने वाले आगरी समुदाय के लोगों का है जो साल में सिर्फ़ एक धान की फसल लेते हैं। ये किसान हमेशा समंदर के पानी का स्तर बढ़ने के डर के साथ ज़िंदा रहते आए हैं जो इनके खेतों को बहा देता है। अगर समंदर का पानी उनके खेतों में घुस जाए तो वो अगले 8-9 वर्षों के लिए मिट्टी को पैदावार के लायक नहीं छोड़ता। इसलिए ये अपने खेतों को बचाने के लिए मिट्टी के छोटे-छोटे बंधान बनाते हैं।

सन् 1989 में जॉन्सन एण्ड जॉन्सन और निप्पॉन कम्पनियों ने अपने उद्योगों से निकलने वाला कचरा समंदर के किनारे फेंकना शुरू किया जिससे समंदर का पानी बाहर निकलने का एक रास्ता बंद हो गया। नतीजे के तौर पर गाँव में पानी घुसा और उनके खेतों और कुओं में भर गया। किसानों ने कम्पनियों के खिलाफ़ रोष जताया, प्रदर्शन किए और कम्पनियों को मजबूर किया कि वे गाँव वालों के लिए समंदर के पानी से बचाव हेतु एक स्थायी दीवार बनाएँ और गाँव वालों को पीने का पानी मुहैया कराएँ।

सन् 2004 में रायगढ़ के समुद्री किनारे पर भीषण बाढ़ आई। एक बार फिर समुद्री पानी को रोकने के सारे उपाय ध्वस्त हो गए। अधिकांश किसान चाहते हैं कि उस बंधान को दोबारा बनाया जाए। महाराष्ट्र सरकार में समुद्री किनारे के गाँवों की सुरक्षा के लिए विशेष विभाग भी है, लेकिन इस गाँव का नाम उस विभाग की सूची में नहीं है। चाहें तो इस गाँव का नाम उस सूची में जुड़ सकता है और सरकार से यह माँग भी की जा सकती है कि अपने तहस-नहस खेतों को दोबारा खेती के लायक बनाने में सरकार इन गाँव वालों की मदद करे।

लेकिन स्थानीय नेता ऐसा नहीं चाहते। उन्हें लगता है कि जल्द ही ये कम्पनियाँ उनकी ज़मीनें ख़रीद लेंगी और वो अच्छे दाम पाने के साथ-साथ दलाली में भी पैसा बना पाएँगे। इस बीच छोटे किसानों ने मजबूरी में नज़दीकी पहाड़ी की निचली ज़मीनों पर खेती करना शुरू कर दिया जहाँ मिट्टी और भी ख़राब है। अब इस गाँव के ज़्यादातर धान के किसान अनाज के लिए सरकारी राशन (सार्वजनिक जन वितरण प्रणाली) पर निर्भर हैं और नज़दीक से गुज़रने वाली रेलवे लाइन पर छोटा-मोटा सामान बेचकर गुज़ारा करते हैं।

महाराष्ट्र के ही एक और गाँव पिम्पड़विहिर की कहानी थोड़ी अलग है। अमरावती-नागपुर हाईवे पर बसे इस गाँव में करीब 250 परिवार रहते हैं। किसी भी तरह की सिंचाई की सुविधा के अभाव में कपास पैदा करने वाले इन किसानों के लिए खेती कभी भी आसान मामला नहीं रहा। लेकिन पिछले दशक में बढ़ती लागत, फसलों के बार-बार ख़राब होने और डॉवाडोल कीमतों की वजह से कपास की खेती उनके लिए निश्चित घाटे का सौदा साबित हुई है। अधिकतर कपास के किसान या तो कपास छोड़ सोयाबीन उगाने लगे हैं या फिर उन्होंने खेती को पूरे तौर पर ही छोड़ने की तैयारी कर ली है। महाराष्ट्र सरकार ने ये इलाका 1990 के दशक में महाराष्ट्र औद्योगिक विकास निगम (एमआईडीसी) को सौंप दिया था। पिछले 10 वर्षों में विभिन्न कम्पनियों ने इस क्षेत्र में अपनी इकाईयाँ लगानी शुरू की हैं और ज़मीन की कीमतें अचानक तेज़ी से बढ़ रही हैं। खेती में घाटा उठा रहे किसान इस अवसर से खुश हैं और अपनी ज़मीनों को अच्छी कीमतों पर बेचने के लिए तत्पर हैं। ज़मीन की ख़रीद-फ़रोख़्त के बाज़ार में जो उछाल आया है वह केवल शहरी भारत तक ही सीमित नहीं रहा है बल्कि ग्रामीण भारत में भी उसकी सक्रियता बढ़ी है। पिम्पड़विहिर की कहानी भारत के अनेक गाँवों में दोहरायी जा रही है।

ऐसी अनेक वजहों से देश में खेती की ज़मीन में नाटकीय रूप से कमी आई है। सन् 1992-93 से 2002-03 के दौरान देश की कुल खेती की ज़मीन 12.5 करोड़ हेक्टेयर से घटकर 10.7 करोड़ हेक्टेयर

रह गई है। महज़ 10 वर्षों की अवधि में देश में 1.8 करोड़ हेक्टेयर ज़मीन खेती से निकलकर दीगर उपयोगों में चली गई है। देश के सभी राज्यों में खेती की ज़मीन कम हुई और कोई भी इसका अपवाद नहीं है। जहाँ एक तरफ ज़मीन घट रही है वहीं दूसरी तरफ इसी अवधि में खेतों की संख्या 9.3 करोड़ से बढ़कर 10.1 करोड़ हो चुकी है। इसका मतलब यह हुआ कि सन् 1992-93 में एक खेत का औसत आकार 1.34 हेक्टेयर था, जो पहले ही अपर्याप्त था, वो सन् 2002-03 में घटकर 1.06 हेक्टेयर रह गया। (स्रोत: नेशनल सेम्पल सर्वे ऑर्गेनाइजेशन-एनएसएसओ, रिपोर्ट 492, 2002-03)

देश भर में विशिष्ट आर्थिक क्षेत्र (SEZ) के भीतर जो खेती की ज़मीनें ली जा रही हैं उनका किसानों द्वारा देश भर में तीव्र विरोध हो रहा है। एसईजेड के सभी पहलुओं को देखते हुए यह विरोध बिल्कुल जायज़ और ज़रूरी है। सरकारी आँकड़ों के मुताबिक अगर सारी एसईजेड परियोजनाओं को ज़मीन आवंटित हो गई तो भी ये कुल 2.1 लाख हेक्टेयर होगी। यह ज़मीन उस 1.8 करोड़ हेक्टेयर की तुलना में 90 गुना कम है जो बग़ैर एसईजेड के ही किसानों के पाँवों तले से हटायी जा चुकी है।

ज़मीन का ग़ैर-बराबर बँटवारा

ग्रामीण परिवारों के बीच में खेती की ज़मीन का बँटवारा पहले से ही बहुत असमान रहा है। हालाँकि आज़ादी के बाद सभी राज्यों ने ज़मीन की हदबंदी लागू की है लेकिन हदबंदी से अधिक की ज़मीन राजसात् कर उसे भूमिहीनों के बीच प्रभावी तौर पर बाँटने के मामले में वे असफल रहे हैं। अपवाद के तौर पर पश्चिम बंगाल, केरल और जम्मू-कश्मीर का ही नाम लिया जा सकता है। देश में भूमि सुधार कार्यक्रम के तहत कुल वितरित की गई ज़मीन का बहुत बड़ा भाग सिर्फ पश्चिम बंगाल और केरल के खाते में जाता है।

वर्ष 2002-03 के एनएसएसओ के आँकड़ों के मुताबिक ग्रामीण भारत के 31 फ़ीसदी परिवारों के पास घर की ज़मीन को छोड़कर खेती

की कोई ज़मीन नहीं है और 10 प्रतिशत ग्रामीण परिवारों के पास तो रहने के लिए घर की ज़मीन भी नहीं है। जिनके पास खेती की ज़मीन है भी, उनमें से 67 फीसदी परिवार सीमांत किसान हैं जिनके पास 2.5 एकड़ से कम कृषि भूमि है। छोटे किसान, जिनके पास 2.5 एकड़ से 5 एकड़ तक ज़मीन है, 18 प्रतिशत हैं। और 10 प्रतिशत ग्रामीण परिवारों के पास अर्द्धमध्यम आकार की, 5 से 10 एकड़ के बीच खेती की ज़मीन है। देश के कुल ग्रामीण परिवारों में केवल 5 प्रतिशत परिवारों के पास 10 एकड़ से ज़्यादा की खेती की ज़मीन है। और ये 5 प्रतिशत परिवार इस देश की 34 प्रतिशत खेती की ज़मीन के मालिक हैं।

एनएसएसओ के ये आँकड़े उन ज़मीनों के बारे में हैं जिन पर परिवारों का हक है। इन आँकड़ों में वो धार्मिक व अन्य संस्थान शामिल नहीं हैं जिनके कब्जे में देश की हज़ारों एकड़ ज़मीन है। इन आँकड़ों में बड़े ज़मींदारों की वो तस्वीर भी साफ़ तौर पर नहीं उभरती जिन्होंने सरकारी क़ानूनों के सूराखों का इस्तेमाल करते हुए कागज़ों पर अपने नाते-रिश्तेदारों के नाम पर ज़मीनें लिखवा लीं और दरअसल खुद बेहिसाब ज़मीन के मालिक होने का आज भी सुख भोग रहे हैं। उदाहरण के तौर पर एनएसएसओ के आँकड़ों में बिहार की शक्ल बिल्कुल साफ़ नहीं होती, जहाँ आज भी जातीय और सामंती संरचनाएँ गहराई से मौजूद हैं। इन आँकड़ों के मुताबिक बिहार में 50 एकड़ से अधिक की ज़मीन का मालिक कोई किसान नहीं है। जबकि बिहार सरकार द्वारा 2006 में डी. बंधोपाध्याय की अध्यक्षता में गठित भूमि सुधार आयोग के नतीजे इसके बिल्कुल उलट हैं। आयोग ने 14 ज़िलों में 15 जनसुनवाईयाँ कीं और ऐसे बड़े ज़मींदारों की एक सूची बनायी जो कागज़ों की हेराफेरी करके हज़ारों एकड़ ज़मीनों के मालिक बने हुए हैं और पर्दे के पीछे अभी भी ज़मींदारी व्यवस्था को चला रहे हैं। गोपालगंज में हथुआ राज, बेतिया में बेतिया राज और शिकारपुर एस्टेट, कटिहार में कुरसेला राज जैसे कुछ नाम उदाहरणस्वरूप लिए जा सकते हैं।

बड़े ज़मींदारों और निहित स्वार्थों के प्रभाव के चलते भूमि सुधार का कार्यक्रम देश में बहुत कम अंशों में ही अमल में आ पाया था।

नव-उदारीकरण के दौर में वो कार्यक्रम प्राथमिकताओं की सूची में हाशिये पर डाल दिया गया। दरअसल, अब तो कई राज्यों में राज्य सरकारों ने भूमि सुधार कार्यक्रम के मायने ही उलट दिए हैं और वो उसे उल्टी दिशा में खींच रही हैं। अब धार्मिक संस्थानों और ट्रस्टों के साथ-साथ बड़े व्यापार घरानों को जंगल और तथाकथित बंजर ज़मीन के बड़े क्षेत्रफल पर सीधे नियंत्रण का अधिकार दिया जा रहा है। फसलों की पैदावार के मामले में कॉर्पोरेट क्षेत्र सीधे-सीधे नहीं लेकिन परोक्ष तौर पर ठेका या संविदा खेती (Contract Farming) के जरिये अपना नियंत्रण बढ़ाता जा रहा है।

धर्म, जाति और ज़मीन का बँटवारा

ऐसा लगता है कि तमाम आधुनिकता और धर्मनिरपेक्षता के शोर के बावजूद ज़मीन की मालिकी और उसके बँटवारे को तय करने में जाति और धर्म अभी भी अहम भूमिका निभाते हैं। मुसलमानों और अनुसूचित जाति के परिवारों के पास खेती की ज़मीन की मिल्कियत आमतौर पर वहीं देखने को मिलती है जहाँ पूरा गाँव ही उनकी बिरादरी का हो। जिन गाँवों में अन्य पिछड़ा वर्ग या सामान्य वर्ग के हिन्दुओं का वर्चस्व हो वहाँ अनुसूचित जाति या मुस्लिमों के पास ज़मीन की मालिकी बमुश्किल ही पायी गई है। हमने जिन राज्यों का अध्ययन किया है उनमें अनुसूचित जाति की भूमिहीनता पंजाब, बिहार और तमिलनाडु में सबसे ज़्यादा सामने आई है। महाराष्ट्र और दक्षिण के अनेक राज्यों में बौद्ध धर्म और पंजाब में सिख धर्म ने दलितों-उत्पीड़ितों को न्याय और बराबरी का भरोसा दिलाया था, जिससे प्रेरित होकर करोड़ों लोग इन महत्त्वपूर्ण आंदोलनों का हिस्सा भी बने। हालाँकि सिर्फ धर्म भर बदल लेने से दलित तबके में ज़मीन की मालिकी पर बहुत कम असर पड़ा है।

हमने जालंधर ज़िले के 3 गाँवों में 310 परिवारों की जाति और भूमि स्वामित्व की जानकारियाँ हासिल कीं। इनमें से 170 परिवारों ने अपने-आप को जट सिख बताया जिनमें से सिर्फ 11 के पास खेती की

ज़मीन नहीं थी। 127 ने अपने-आप को मज़हबी सिख बतया जो सिखों के भीतर अनुसूचित जाति के हैं। इन 127 में से 125 के पास खेती की कोई ज़मीन नहीं है। इन सभी मज़हबी सिखों के पुरखों ने हिन्दू धर्म के भीतर मौजूद सामाजिक असमानता से छुटकारा पाने के लिए सिख धर्म को अपनाया होगा और अनेक दशकों तक बराबरी की अपनी चाहत को पूरा न होते देख अब वो सिख धर्म के भीतर ही दूसरे पंथ बना रहे हैं।

इसी तरह अमरावती ज़िले में हमने 542 परिवारों की सूची बनायी, इनमें से 123 ने अपना धर्म बौद्ध बताया और जाति अनुसूचित। इन 123 में से 72 के पास खेती की कोई ज़मीन नहीं थी और 23 के पास 2.5 एकड़ से कम ज़मीन थी।

बँटाईदारी (लीज़िंग)

भारत में अंग्रेजों के आने के पहले से ही ज़मीन सामंती आधारों पर बहुत असमान रूप से वितरित थी। भूमि स्वामित्व के इन सामंती संबंधों की विरासत को औपनिवेशिक सरकार ने और बिगाड़ा। अंग्रेजी राज के दौरान पहले से ही काफ़ी रही भूमिहीनता में और भी बढ़ोत्तरी हुई। ग़रीब ग्रामीण परिवारों के पास न ज़मीन थी और न ही कोई और रोज़गार। ऐसे में उनके पास इसके सिवाय और कोई चारा नहीं था कि वे बड़े किसानों और ज़मींदारों से ज़मीन बँटाई पर लेकर उसे जोतें और किसी तरह अपने आप को ज़िंदा रखें। ज़मीन की बँटाई की शर्तें, ज़ाहिर है कि ज़मींदारों के लिए फ़ायदेमंद और किसानों के लिए भीषण शोषणकारी थीं। बँटाई पर खेती करने वालों के लिए किसी तरह की सुरक्षा नहीं थी। आज़ादी के बाद हिन्दुस्तान में इसीलिए बँटाई के मुद्दे को भूमि सुधार कार्यक्रम का एक अहम हिस्सा माना गया। लेकिन चूँकि ज़मीन राज्य सरकार के अधिकारों के अंतर्गत आने वाली सम्पत्ति है इसलिए अलग-अलग राज्यों ने इस मामले पर अलग-अलग भूमिका अख़्तियार की। कुछ राज्यों ने बँटाईदारी को पूरे तौर पर ग़ैरक़ानूनी घोषित किया और कुछ ने बँटाईदारों की सुरक्षा के लिए कुछ नियम व

क़ानून बनाये। क़ानूनी तौर पर जो भी किया गया लेकिन बँटाईदारों को कोई ख़ास सुरक्षा हासिल नहीं हुई। बँटाईदारी पहले की तरह ही चलती रही, क़ानूनी तौर से या ग़ैरक़ानूनी तौर पर। पश्चिम बंगाल में ज़रूर ऑपरेशन बरगा के ज़रिये बँटाईदारों को सुरक्षा देने और बँटाई की शर्तों को न्यायसम्मत बनाने में कुछ हद तक कामयाबी हासिल की गई।

वक़्त गुज़रने के साथ-साथ बँटाई पर ज़मीन लेकर खेती किये जाने की प्रवृत्ति में देश में कमी दर्ज की गई है। एनएसएसओ के सर्वेक्षण बताते हैं कि सन् 1970-71 में बँटाईदारों द्वारा जोते जाने वाले खेतों की संख्या कुल जोतों का 24 प्रतिशत थी, जो सन् 2002-03 में कम होकर 10 प्रतिशत रह गई। क्षेत्रफल के हिसाब से देखें तो कुल जोती जाने वाली ज़मीन का 10 प्रतिशत भाग 1970-71 में बँटाईदारी के तहत जोता जाता था, जो 2002-03 में कम होकर 6.5 प्रतिशत रह गया। प्रतिशतों में ये आँकड़े छोटे हैं लेकिन असल मात्रा देखें तो सन् 2002-03 में बँटाई के अंतर्गत जोती जाने वाली ज़मीन 70 लाख हेक्टेयर और एनएसएसओ के मुताबिक बँटाई पर ली जाने वाली जोतों की संख्या 1 करोड़ है। ज़्यादातर बँटाई पर खेती करने वाले किसान या तो भूमिहीन होते हैं या सीमांत किसान, जो बड़े भूपतियों से ज़मीन बँटाई पर लेकर अपना जीवन-यापन करते हैं।

बिहार के मधुबनी ज़िले के मधेपुरा ब्लॉक में एक गाँव है - हसौली। यह 300 एकड़ में फैला गाँव है जहाँ 82 परिवार रहते हैं। सारे परिवार सदाय समुदाय के हैं, जो अनुसूचित जाति में आते हैं। इनमें से किसी के पास भी अपनी मालिकी की ज़मीन नहीं है। यहाँ तक कि जिस ज़मीन पर इनके घर खड़े हैं वह भी इनकी नहीं है। गाँव की पूरी ज़मीन किसी महंत की सम्पत्ति है जो बहुत दूर हजारीबाग में कहीं रहते बताए जाते हैं। गाँव के अधिकतर परिवार खेत मज़दूरी का काम करते हैं लेकिन 20 परिवार ऐसे हैं जिन्होंने बताया कि वो बँटाई पर लेकर खेती भी करते हैं। इनमें से कुछ ने बँटाई की ज़मीन मन्दिर (या महंत) से ली बताई, बाकियों ने बताया कि वे पड़ोसी गाँव के किसानों से बँटाई पर लेकर खेती करते हैं। इसका अर्थ यह निकला

कि पड़ोस के जिन गाँव वालों ने महंत से इस गाँव की ज़मीन बँटाई पर ली होगी, उन्होंने हसौली के कुछ लोगों को वह ज़मीन आगे बँटाई पर दे दी। बँटाई पर ली जाने वाली ज़मीन भी बहुत कम, 1 से 2 एकड़ प्रति परिवार है। वो इस ज़मीन पर धान उगाते हैं और रबी के दौरान ज़मीन के एक छोटे हिस्से पर गेहूँ की फसल भी लेते हैं। धान और गेहूँ दोनों की ही पैदावार कम है। आधी फसल ज़मीन के मालिक को चली जाती है, बाकी फसल से घरेलू ज़रूरतें पूरी की जाती हैं। सर्वे किए गए 10 किसानों में से एक भी इतना नहीं उगा पाता कि वो उसे बाज़ार ले जा सके। अधिकतर गाँव वाले महंत के बारे में ज़्यादा कुछ नहीं जानते। उनकी बँटाई की ज़मीन की कोई सुरक्षा नहीं है। बँटाई की शर्तें कभी सुधरेंगी या उन्हें उनकी मेहनत का बेहतर नतीजा हासिल होगा, ऐसी उम्मीदें भी ज़्यादा नहीं हैं।

बँटाई के ऐसे भी मामले हैं जहाँ एक छोटा किसान दूसरे छोटे किसान से ही ज़मीन के छोटे टुकड़े बँटाई पर लेता है। ऐसे मामलों में बँटाई की शर्तें अपेक्षाकृत अधिक बराबरी पर आधारित होती हैं। अक्सर लागत और उपज को बँटाईदार और खेत मालिक के बीच आधा-आधा बाँट लिया जाता है। बँटाईदारों की एक और नयी किस्म पिछले कुछ वर्षों में उभरी है जहाँ छोटे किसानों के लिए खेती करना मुश्किल हो गया है और बड़े संसाधन सम्पन्न किसानों के लिए ज़्यादा मुनाफ़े का सौदा। वहाँ बड़े किसान छोटे किसानों से ज़मीन बँटाई पर ले लेते हैं। एनएसएसओ के आँकड़ों में भी ऐसी उलट बँटाई (Reverse leasing) दर्ज हुई है, जिसके मुताबिक 14 प्रतिशत बड़े किसान देश में बँटाई पर ज़मीन लेकर खेती कर रहे हैं। ये उलट बँटाई खासतौर से उन जगहों पर देखने में आती है जहाँ खेती में पैदावार और मुनाफ़ा आकर्षक हो। पंजाब में बड़े किसान एक निश्चित रकम के बदले छोटे किसानों की ज़मीन खेती के लिए बँटाई पर ले लेते हैं। मध्य प्रदेश के उज्जैन और सागर ज़िलों में हमें ऐसे छोटे किसान मिले जो अपनी ज़मीन गेहूँ की खेती के लिए उन किसानों को बँटाई पर दे देते हैं जिनके पास सिंचाई और खेती के अन्य साधन हैं। ऐसे मामलों में छोटे किसान अपनी

ज़मीन, अपना श्रम और अन्य खर्चों का आधा हिस्सा वहन करते हैं, बड़ा किसान उन्हें पानी और बाक़ी लागत का आधा हिस्सा देता है। पैदावार दोनों में आधी-आधी बँट जाती है।

निष्कर्ष : खेती के इस भीषण संकट का कोई भी हल सबसे पहले खेती की ज़मीन को खेती के अलावा अन्य इस्तेमाल में लिए जाने पर रोक लगाने की माँग करता है, साथ ही यह भी उतना ही ज़रूरी है कि खेती में लगे हुए मेहनतकश लोगों के बीच ज़मीन का न्यायसंगत बँटवारा हो। विशेषरूप से,

1. अंग्रेजों के बनाये हुए जनविरोधी भूमि अधिग्रहण अधिनियम, 1894 को तत्काल एक नये जनहितैषी अधिनियम से बदला जाना चाहिए जिसमें “सार्वजनिक हित और सार्वजनिक उद्देश्य” को साफ़ तौर से परिभाषित किया जाए, किसी भी परियोजना में जनभागीदारी सुनिश्चित की जाए और जहाँ लोग विस्थापित हों, वहाँ उनका पुनर्वास इस तरह किया जाए कि वे बेहतर जीवन स्थितियों को हासिल कर सकें।
2. ऐसी प्रणाली विकसित की जानी ज़रूरी है जो ग्रामीण तबक़े को बाज़ार की ताक़तों पर लगाम कसने में प्रभावी बनाये। बाज़ार किसी एक को आकर्षक प्रस्तावों से लुभा सकता है और उसकी खेती की ज़मीन का इस्तेमाल दूसरे कार्यों में कर सकता है लेकिन किसी एक के ऐसे कदम का असर पूरे समुदाय पर नुकसान की शक्ल में ही पड़ेगा।
3. हाशिये पर डाल दिए गए भूमि सुधार कार्यक्रम को फिर से केन्द्र में लाना ज़रूरी है। बड़े ज़मींदारों, मंदिरों, महंतों और अन्य धार्मिक संस्थानों के कब्ज़े में मौजूद बड़ी-बड़ी ज़मीनों को सरकार अपने कब्ज़े में ले और उसका भूमिहीनों व ग़रीब किसानों के

बीच उचित बँटवारा करे।

4. बँटाईदारी की शर्तों को इस तरह बनाया जाए कि बँटाईदारों के बँटाई के अधिकार और कुल उत्पादन में उनकी हिस्सेदारी पर उनका हक सुरक्षित हो। इन सुधारों को मज़बूती से लागू करना ज़रूरी है। उलट बँटाई के ज़रिये छोटे किसानों के शोषण पर भी तुरंत रोक लगनी चाहिए।

★ ★ ★ ★ ★

सिंचाई और फसल का चयन

एनएसएसओ का सर्वेक्षण बताता है कि देश में लगभग 10 करोड़ कुल जोतें हैं, जिनमें से 7 करोड़ जोतों का आकार 2.5 एकड़ से कम है जिसे सीमांत श्रेणी में गिना जाता है। (मालिकी की लगभग 66 प्रतिशत जोतें सीमांत हैं लेकिन वास्तविक जोतों में बँटाई की ज़मीनें और अन्य तरीकों से जोती जा रही जोतें शामिल हैं। इसलिए वास्तविक जोतों के मामले में सीमांत जोतों की संख्या 70 प्रतिशत है।) अगर भूमि सुधार कार्यक्रम को अमल में लाया जाता है तो इन सीमांत जोतों की संख्या में और भी वृद्धि होगी।

हालाँकि 1 एकड़ ज़मीन के मायने सबके लिये एक जैसे नहीं होते। दूसरी चीज़ों के साथ ही पानी की उपलब्धता, उपजाऊ और अनुपजाऊ ज़मीन के भीतर सबसे बड़ा फ़र्क पैदा करती है। देश का लगभग 40 प्रतिशत बुवाई का रकबा ख़रीफ़ में और 65 प्रतिशत रबी में सिंचित है, लेकिन अलग-अलग राज्यों में पानी की उपलब्धता अलग-अलग है। मसलन पंजाब में रबी का 94 प्रतिशत बुवाई का रकबा सिंचित है जबकि छत्तीसगढ़ में सिर्फ़ 8 प्रतिशत। एक राज्य के भीतर भी सिंचाई की सुविधाएँ एक ज़िले से दूसरे ज़िले में और एक ज़िले के भीतर भी एक गाँव से दूसरे गाँव में बदल जाती हैं। यहाँ तक कि एक ही गाँव के अंदर कुछ किसानों को पानी उपलब्ध रहता है और कुछ को नहीं। हमने अपने अध्ययन में 8 राज्यों से 114 गाँवों को शामिल किया है। हमें 48 गाँव ऐसे मिले जहाँ किसानों ने कहा कि उनके पास सिंचाई का साधन नहीं है, जबकि पंजाब, बिहार और केरल में किसी ने भी सिंचाई की कमी का उल्लेख नहीं किया। मध्य प्रदेश

और महाराष्ट्र के हर गाँव में कुछ न कुछ किसानों ने सिंचाई की सुविधा का न होना बताया। इसके अलावा आंध्र प्रदेश के 8 गाँव, पश्चिम बंगाल के 5 गाँव और तमिलनाडु के 4 गाँवों में भी सिंचाई की सुविधा अनुपलब्ध दर्ज की गई। हालाँकि इन 48 गाँवों में से केवल 4 गाँव ऐसे थे (1 मध्य प्रदेश में और 3 महाराष्ट्र में) जहाँ छोटे या बड़े, किसी भी किसान के पास सिंचाई की सुविधा उपलब्ध नहीं थी। बाकी के 44 गाँवों में, जहाँ अधिकतर सीमांत किसान बारिश की खेती पर निर्भर थे वहीं मध्यम और बड़े किसानों की स्थिति वैसी नहीं थी। हमने पाया कि इन गाँवों में बड़े व मध्यम किसानों ने सिंचाई की सुविधा का कुछ न कुछ इंतज़ाम किया हुआ है।

सिंचाई के पानी की उपलब्धता के सवाल का जवाब सिर्फ़ हाँ या न में नहीं दिया जा सकता। उसके साथ ये सवाल भी जुड़े होते हैं कि पानी कितना उपलब्ध है और किस कीमत पर। अक्सर जब कोई किसान कहता है कि उसके पास सिंचाई की सुविधा है, तो वो अपने जवाब को आगे बढ़ाते हुए बताता है कि वो सुविधा दरअसल एक नहर की है या एक कुएँ की, जिनमें सिर्फ़ बारिश में ही पानी रहता है। पानी के बहुत सारे स्रोत सिर्फ़ मानसून के दौरान ही पानी उपलब्ध कराते हैं। बारिश के कुछ ही महीनों के बाद नदियाँ, नाले, नहरें, कुएँ, तालाब या तो सूख जाते हैं या फिर उनमें सिंचाई की ज़रूरत के लायक पानी ही नहीं रह जाता है। उनसे ख़रीफ़ की फसलों की सिंचाई तो हो जाती है लेकिन रबी में, जब सिंचाई की सबसे ज़्यादा ज़रूरत होती है तब वो बेकार हो जाते हैं। ऐसा केवल पंजाब, हरियाणा जैसे कुछ ही राज्यों में होता है जहाँ सिंचाई की सुविधा को योजनाबद्ध रूप से उपलब्ध कराने के लिए नियंत्रित और समुचित पानी नहरों में छोड़ा जाता है। लेकिन एक बार फिर “कितना पानी” के सवाल का जवाब छोटे और बड़े किसानों का अलग-अलग होता है। पंजाब के ही भटिण्डा और मानसा ज़िलों में हमें सभी किसानों ने बताया कि सिंचाई के लिए उनके पास नहर का पानी मौजूद है और वो उससे रबी और ख़रीफ़, दोनों मौसमों में फसलें लेते हैं। लेकिन यहाँ भी सीमांत किसानों के पास

सिर्फ नहर का सीमित पानी उपलब्ध है जबकि इन ज़िलों के चारों गाँवों के मध्यम और बड़े किसानों के पास सिंचाई के दो स्रोत मौजूद हैं - नहर और ट्यूबवैल। पंजाब में होने वाली वर्षा को देखते हुए धान की खेती के लिए सिर्फ नहर के पानी पर निर्भर नहीं रहा जा सकता। यहाँ तक कि वो कपास की खेती के लिए भी बमुश्किल ही पूरा पड़ता है। हमने इन दोनों ज़िलों में पाया कि जहाँ सभी सीमांत किसान कपास लगा रहे हैं, वहीं बड़े और मध्यम किसान धान की खेती कर रहे हैं।

सिंचाई का खर्च

पुराने अर्थों में सिंचाई का मतलब नदियों, तालाबों और झीलों में बारिश से इकट्ठा हुए पानी का खेती के लिए इस्तेमाल करना होता था। इन अर्थों में पहले सिंचाई की सुविधाएँ सार्वजनिक हुआ करती थीं। हालाँकि पानी का बँटवारा कभी भी बराबर नहीं रहा लेकिन सिद्धांततः हर किसान इस सार्वजनिक हित की सुविधा का इस्तेमाल कर सकता था। सरकार की ओर से सन् 1950-60 के दशक में ज़मीन की सतह वाली सिंचाई सुविधाओं को बढ़ाने के लिए भारी-भरकम निवेश किया गया। बड़े बाँधों और लम्बी नहरों पर ख़ासा ज़ोर दिया गया। वक़्त के साथ-साथ बड़े बाँधों की ख़ामियाँ और उनसे होने वाले पर्यावरणीय और सामाजिक नुकसान सामने आए और इस किस्म की बहुत सी बड़ी परियोजनाओं को स्थगित करना पड़ा। जिन्होंने बड़े बाँधों का विरोध किया उन्होंने सिंचाई की छोटी सुविधाओं, जल संवर्द्धन परियोजनाओं और पानी के परंपरागत स्रोतों को पुनर्जीवित करने की माँग उठायी। यह दुःखद है कि इन माँगों को पूरी तरह नज़र-अंदाज़ करते हुए सिंचाई के ढाँचे ने दूसरी ही शक्ल ले ली। जो हुआ वो इसके बिल्कुल उलट था। खेती ज़्यादा, और ज़्यादा पृथ्वी के भीतर का पानी बाहर निकालने पर निर्भर होती गई। सन् 1980-81 में नहरों से होने वाली सिंचाई का रकबा 15292000 हेक्टेयर था और ट्यूबवैल से 9531000 हेक्टेयर ज़मीन सींची जाती थी। सन् 2005-06 में नहरों से सिंचित रकबा लगभग उतना ही (15475000 हेक्टेयर) बना रहा

जबकि ट्यूबवैल से सींचा जाने वाला इलाका बढ़कर 23224000 हेक्टेयर हो गया। (स्रोत: www.indiastat.com, भारत सरकार का कृषि मंत्रालय)

अब हमारे देश में 2 करोड़ से ज़्यादा सिंचाई के डीजल और बिजली के पम्पों से सुसज्जित कुँ मौजूद हैं। सतह के पानी से भूमिगत जल पर हुई इस निर्भरता का अर्थ यह है कि सिंचाई की सुविधा अब सार्वजनिक न रहकर निजी हो गई है। भूमिगत जल से सिंचाई का खर्च काफ़ी भारी होता है। ख़ासतौर से उन इलाकों में जहाँ भूजल स्तर नीचे हो। ज़ाहिर है कि इतना खर्च कर सकने में सक्षम, सम्पन्न किसान ही रहे हैं। भटिण्डा जैसे पंजाब के कुछ इलाकों में भूजल स्तर इतना नीचे जा चुका है कि करीब 1000 फीट तक सूराख़ करने के बाद भी बोरिंग से खेती के उपयोग का पानी नहीं निकला। उसी इलाके में जहाँ बोरिंग कामयाब हैं, वहाँ बोरिंग की लागत, मोटर एवं बिजली की सुविधाओं का खर्च कुल मिलाकर औसतन 2.5 से 3 लाख रुपये पड़ता है। आगे की पेचीदगी यह है कि भूजल के इस्तेमाल के इस तरह के कोई नियम-कायदे और अधिकार नहीं हैं कि कोई कितनी गहराई से पानी निकालेगा या कितना पानी निकालेगा। इसलिए सम्पन्न किसान ज़्यादा गहराई तक बोरिंग करके पड़ोस के छोटे किसानों की ज़मीन के नीचे मौजूद उनके हिस्से का पानी भी खींच लेते हैं। वे ज़मीन के “ज़मीनदार” होने के साथ-साथ पानी के “पानी-दार” भी बनते जा रहे हैं। इसका स्वाभाविक नतीजा यह हुआ है कि देश के विभिन्न हिस्सों में भूजल और किराये के पम्पों का अनौपचारिक बाज़ार उभर आया है। इन बाज़ारों में पानी उपलब्ध है जिसे छोटे और सीमांत किसान बेशक ख़रीद सकते हैं, बशर्ते वे उसकी ऊँची कीमत अदा कर सकें। इसलिए जब एक सीमांत या छोटा किसान जवाब देता है कि वो अपनी खेती में ट्यूबवैल से सिंचाई करता है तो इसका अर्थ यह होना ज़रूरी नहीं है कि उसके पास उसका अपना ट्यूबवैल व मोटर है। दरअसल वो किसान इस सुविधा के लिए भारी कीमत चुकाता है।

बिहार के कटिहार ज़िले के लालगाँव में किसानों द्वारा केवल रबी की फसल लेना उनकी मजबूरी है क्योंकि ख़रीफ़ के मौसम के दौरान

उनके खेत गंगा के पानी में डूबे रहते हैं। रबी में वो एक किस्म की धान उगाते हैं जिसे स्थानीय भाषा में गरमा धान कहा जाता है। इस फसल को बहुत सारे पानी की ज़रूरत होती है। फसल के दौरान खेतों की करीब 6 बार सिंचाई की जाती है जिसके लिए डीजल पंप में 80 से 90 लीटर डीजल लगता है। हमें किसानों ने बताया कि सिर्फ सिंचाई के लिए उनका खर्च करीब 5000 रुपये प्रति एकड़ तक आता है, जिसमें डीजल का खर्च और पंप का किराया शामिल होता है। जबकि जुताई, रोपाई, कटाई, थ्रेशिंग आदि का खर्च मिलाकर औसतन करीब 3000 रुपये प्रति एकड़ पड़ता है।

फसल का चयन

किसी खास कृषि जलवायु वाले क्षेत्र में किसी खेत का क्या इस्तेमाल किया जा सकता है, यह काफी हद तक खेत के आकार और पानी की उपलब्धता पर निर्भर करता है। एनएसएसओ के आँकड़े भी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। एनएसएसओ की रिपोर्ट क्रमांक 492 के मुताबिक खेत का आकार बदलने के साथ-साथ फसलों में उल्लेखनीय बदलाव हो जाता है। मसलन खरीफ़ के मौसम में सीमांत किसानों की बुवाई के शुद्ध रकबे का 76 प्रतिशत खाद्यान्न की फसलों के अंतर्गत आता है। जबकि 10 हेक्टेयर (25 एकड़) से अधिक के किसान सिर्फ 50 प्रतिशत ज़मीन पर ही खाद्यान्न उगाते हैं। बड़े किसान अपनी ज़मीन के काफी बड़े हिस्से का इस्तेमाल तिलहन, दालें, गन्ना और रेशेदार फसलें उगाने के लिए करते हैं। सीमांत किसानों की 55 से 60 प्रतिशत ज़मीन हरियाणा में और 75 प्रतिशत ज़मीन उत्तर प्रदेश में खाद्यान्न उत्पादन के इस्तेमाल में आती है। ये दोनों राज्य गन्ने के प्रमुख उत्पादक हैं। यहाँ बड़े किसान दोनों ही राज्यों में लगभग 40 प्रतिशत ज़मीन पर ही खाद्यान्न उत्पादन करते हैं। हरियाणा के सीमांत किसान गन्ना कतई नहीं उगाते और उत्तर प्रदेश में सीमांत किसानों की सिर्फ 8 प्रतिशत ज़मीन पर गन्ना उगाया जाता है। दोनों ही राज्यों के बड़े किसान अपनी ज़मीन के लगभग 55 से 60 प्रतिशत हिस्से में गन्ने का उत्पादन करते हैं।

गन्ने की तरह ही ऐसी और भी फसलें हैं, खासतौर से हॉर्टिकल्चर के तहत उगायी जाने वाली फसलें, जो संसाधनहीन ग़रीब किसानों के वश से बाहर हैं।

हमारे अध्ययन में हमने 8 राज्यों के 811 सीमांत किसानों द्वारा उगायी जाने वाली फसलों का ब्यौरा इकट्ठा किया। हमें मिलीं प्रमुख जानकारीयाँ इस प्रकार हैं -

1. 811 में से 393 किसान अपने खेतों को सिर्फ़ एक ही मौसम में जोतते हैं, अधिकांशतः ख़रीफ़ में। सिर्फ़ पंजाब में हमने पाया कि सभी सीमांत किसान रबी और ख़रीफ़, दोनों फसलें लेते हैं। बिहार और पश्चिम बंगाल में पानी की कोई कमी नहीं है लेकिन वहाँ ऐसे गाँव हैं जो बारिश में बाढ़ से प्रभावित होते हैं। उन गाँवों के किसान सिर्फ़ रबी की फसल ले पाते हैं। महाराष्ट्र जैसे राज्यों में जहाँ पानी की कमी है, 126 सीमांत किसानों में से 109 सिर्फ़ ख़रीफ़ की फसल लेते हैं। मध्य प्रदेश भी पानी की कमी वाला राज्य है लेकिन यहाँ के दो आदिवासी ज़िलों, बैतूल और अनूपपुर में सीमांत किसान रबी के मौसम में बग़ैर सिंचाई की फसल लगाते हैं और बहुत कम उपज पाते हैं। मध्य प्रदेश के ही दो अन्य ज़िलों उज्जैन और सागर में संसाधनहीन सीमांत किसान अपनी ज़मीन रबी के मौसम में बँटाई पर दे देते हैं। नतीजतन मध्य प्रदेश में रबी में भी खेती करने वालों की संख्या अधिक है। कुल 125 में से 34 किसान ही ऐसे हैं जो सिर्फ़ ख़रीफ़ की फसल लेते हैं।
2. ऐसे कृषि जलवायु क्षेत्रों में जहाँ धान उगायी जाती है सभी सीमांत किसान अपनी पूरी ज़मीन पर धान की फसल लगाते हैं, जो उनके भोजन का मुख्य आधार है। पूरे पंजाब में, और बिहार के कुछ हिस्सों में भोजन की आधार फसल गेहूँ है, इसलिए वहाँ के किसान रबी में गेहूँ की खेती को प्राथमिकता देते हैं। लेकिन जिन इलाकों में पहले खाने के इस्तेमाल में ख़रीफ़ के मौसम में पैदा होने वाली ज्वार या दूसरा कोई मोटा अनाज उगाया जाता

था, वहाँ किसान सोयाबीन या अन्य तिलहन फसलों की ओर मुड़ गए हैं। ये प्रवृत्ति मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश और तमिलनाडु के कुछ-कुछ ज़िलों में देखी गई। हालाँकि अभी भी मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र के कुछ ज़िलों में किसान मोटे अनाज की खेती अपने भोजन की पूर्ति के लिए कर रहे हैं। संक्षेप में, हमने पाया कि सभी राज्यों में सीमांत किसान अपनी परिस्थितियों के अनुसार उन फसलों को प्राथमिक तौर पर उगाते हैं जिनका वे खुद खाने के लिए इस्तेमाल करते हैं।

3. मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र के आदिवासी बहुल ज़िलों में किसान कई टुकड़ों में बँटी अपनी ज़मीन के छोटे-छोटे हिस्सों पर बहुत सारी ऐसी स्थानीय फसलें उगाते हैं जिनमें से बहुतों के तो नाम भी आम तौर पर अपरिचित हैं। (देखें बॉक्स)

एक सीमांत किसान का फसल चक्र, सीतलझिरी, ज़िला बैतूल (म.प्र.)
कुल ज़मीन 1.4 एकड़

फसल	फसल के अंतर्गत क्षेत्र	उत्पादन
तुअर	0.20 एकड़	12 किलो
बटला	0.10 एकड़	10 किलो
कोदों	0.15 एकड़	25 किलो
कुटकी	0.15 एकड़	22 किलो
मक्का	0.30 एकड़	20 किलो
धान	0.15 एकड़	1.8 क्विंटल
गेहूँ	1.30 एकड़	1.4 क्विंटल

नोट: सभी फसलों का सारा उत्पादन घरेलू खपत में काम आता है जो कि इस किसान के 5 सदस्यों के परिवार के लिए अपर्याप्त है; परिवार के 4 सदस्य पास के कस्बों और शहरों में मज़दूरी करने जाते हैं।

4. हर गाँव में बड़े किसान के पास फसलों को चुनने का ज़्यादा बड़ा और बेहतर दायरा मौजूद है। यहाँ तक कि बैतूल ज़िले के एक आदिवासी गाँव सीतलझिरी में 54 एकड़ का बड़ा किसान अन्य सीमांत किसानों की तरह ही कोदो, कुटकी, ज्वार, मक्का, गेहूँ और सोयाबीन आदि तो उगा ही रहा है लेकिन वह साथ ही गन्ना, आलू, प्याज भी उगाता है जो अधिक मुनाफे वाली फसलें हैं। जालंधर ज़िले में फसल का चुनाव सीधे तौर पर खेत के आकार के साथ जुड़ा है। सबसे छोटे किसान गेहूँ और मक्का उगाते हैं, उनसे थोड़े बेहतर किसान गेहूँ के साथ धान उगाते हैं, बड़े किसान गेहूँ, धान के साथ आलू उगाते हैं और सबसे बड़ी श्रेणी के किसान गेहूँ, धान के साथ गन्ना उगाते हैं। ऐसा ही भटिण्डा के बारे में भी कहा जा सकता है, जहाँ संसाधनहीन सीमांत किसानों के पास धान उगाने का विकल्प ही नहीं है और उन्हें मजबूरन कपास ही उगाना पड़ता है, जिसमें धान से कम पानी लगता है।

★ ★ ★ ★ ★

सीमांत किसानों की उपज और बाज़ार में उनकी स्थिति

हालाँकि ज़मीन का आकार और पानी की सीमित उपलब्धता छोटे और सीमांत किसानों के लिए फसल चयन के मामले में सभी जगह असर डालती है, लेकिन कुछ जगहों पर इनके असर भीषण होते हैं और कुछ जगहों पर कम। ऐसे सीमांत किसान भी हैं जो अपेक्षाकृत रूप से विकसित इलाकों में बसे हुए हैं - ऐसे इलाके जहाँ पानी मौजूद है, खेती आधुनिक मशीनों से होने लगी है, उन्नत बीज आ गए हैं और बाज़ार तथा वित्तीय व्यवस्थाएँ भी विकसित हो गई हैं। ऐसे सीमांत किसान भी हैं जहाँ खेती अपने लगभग आदिम स्वरूप में की जा रही है और ढाँचागत सुविधाओं का कोई विकास नहीं हुआ है। वो मशीनों, बाज़ार और विकसित बीजों आदि से पूरी तरह कटे हुए हैं। ज़ाहिर है कि इन दो अलग-अलग मामलों में किसानों का उत्पादन भी अलग-अलग होगा और बाज़ार तक उनकी पहुँच भी अलग-अलग होगी।

अगर पानी उपलब्ध हो तो हमने देखा कि छोटे किसान भी रबी और ख़रीफ़ दोनों की फसल लेते हैं। पश्चिम बंगाल में लगभग हर किसान ख़रीफ़ की फसल अमन धान अपने खाने के लिए उगाता है और उसके बाद रबी में दूसरी फसल के तौर पर बोरो धान या आलू या जूट की खेती करता है। वहाँ ऐसे भी किसान हैं जो साल में तीन बार या उससे भी ज़्यादा ज़मीन जोतते हैं और अपने खेतों का पूरे साल इस्तेमाल करते हैं। पंजाब में सीमांत किसान गेहूँ की फसल अपने खाने के लिए उगाते हैं और ख़रीफ़ की फसलों में कपास या मक्का की खेती करते हैं। बिहार के कुछ ज़िलों जैसे रोहतास में, किसान ख़रीफ़ में धान और रबी में गेहूँ उगाते हैं। मध्य प्रदेश के उज्जैन और

सागर ज़िलों में सीमांत किसान ख़रीफ़ में सोयाबीन और रबी में चना उगाते हैं। कहीं-कहीं वे गेहूँ की खेती के लिए अपनी ज़मीन लीज़ पर दे देते हैं। महाराष्ट्र और आंध्र प्रदेश में ऐसे कम ही किसान हैं जो ख़रीफ़ के साथ रबी की भी फसल ले पाते हैं। आंध्र प्रदेश के कृष्णा ज़िले में किसान दो मौसमों की धान लगाते हैं जिसे स्थानीय तौर पर सरवा और दलवा कहते हैं। ऐसे ही नासिक ज़िले के कुछ गाँवों में रबी के दौरान उगाये जाने वाले गेहूँ को किसान अपने खाने में इस्तेमाल करते हैं और ख़रीफ़ की फसल मक्का को दूसरी फसल के तौर पर लेते हैं। तमिलनाडु में मानसून का समय देश के बाकी इलाकों से अलग होने की वजह से बहुत सारे किसान धान की दो फसलें लेते हैं और कुछ धान के साथ मूँगफली की फसल लगाते हैं।

जुताई, बुवाई, कटाई आदि

जब खेती की गतिविधियों का मशीनीकरण हो जाता है, और बड़े किसान ट्रैक्टर, हार्वेस्टर, पंपसेट, मोटरें इत्यादि ख़रीद लेते हैं, तो इन चीज़ों का एक स्थानीय बाज़ार भी बन जाता है, जहाँ ये किराये से ली और दी जाती हैं। सीमांत किसान इन मशीनों के मालिक नहीं होते। वो इन्हें किराये पर लेकर ही इस्तेमाल करते हैं। हमारे अध्ययन में 811 सीमांत किसानों में से सिर्फ़ 2 ने अपने पास ट्रैक्टर होना बताया। अधिकांश सीमांत किसान अपने पास कुल्हाड़ी, फावड़ा, गेंती, तगाड़ी जैसे छोटे-मोटे खेती के उपकरण होना बताते हैं। जहाँ खेती मशीनों से अधिक की जाने लगी है वहाँ के किसानों के पास तो अपने पुराने हल भी नहीं रहे। जब किसी गाँव में बड़े किसान मशीनों से खेती करना शुरू करते हैं, और अपने इस्तेमाल के बाद उनकी मशीन किराये पर देने के लिए उपलब्ध रहती है तो धीरे-धीरे सीमांत किसान चाहे-अनचाहे, देर-सबेर मशीनी खेती की राह पकड़ ही लेते हैं। जुताई और बुवाई के लिए वो ट्रैक्टर का इस्तेमाल करते हैं, सिंचाई के लिए बिजली या डीजल की मोटरों का, थ्रेशिंग के लिए थ्रेशर का और फसल को मण्डी या घर तक लाने के लिए ट्रैक्टर-ट्रॉली का इस्तेमाल करते हैं। हमें

पंजाब के अनेक गाँवों और बिहार के एक गाँव में ऐसे भी सीमांत किसान मिले जो फसल कटाई के लिए हार्वेस्टर का इस्तेमाल करते हैं।

इन सभी मशीनों का किराया काफी होता है। आमतौर पर एक एकड़ ज़मीन की जुताई के लिए ट्रैक्टर का किराया 500 से 600 रुपये तक देना होता है। जबकि एक ट्रैक्टर मालिक के लिए इसका खर्च 200 से 250 रुपये प्रति एकड़ पड़ता है जिसमें ट्रैक्टर की देखरेख और मरम्मत का खर्च भी शामिल है। सिंचाई का खर्च हर राज्य में अलग-अलग आता है। पंजाब, आंध्र प्रदेश और तमिलनाडु में किसानों ने बताया कि उन्हें बिजली सरकार की ओर से मुफ्त मिलती थी और बिजली के पंपों का इस्तेमाल करने में कोई खर्च नहीं आता था। आंध्र प्रदेश के कुछ गाँवों में तो यह भी बताया गया कि सरकार की ओर से किसानों को बिजली की मोटरें भी दी गई थीं। मध्य प्रदेश में बिजली की मोटरों और पंपों का इस्तेमाल होता है लेकिन बिजली मुफ्त में उपलब्ध नहीं होती। कुछ जगहों पर किसानों ने बताया कि रबी की फसल के दौरान वो अस्थायी कनेक्शन ले लेते हैं जिनकी उन्हें खासी रकम देनी होती है, या फिर वे अवैध कनेक्शन ले लेते हैं जिसकी वो रिश्वत अदा कर देते हैं। चूँकि मध्य प्रदेश में छत्तीसगढ़ अलग राज्य हो जाने के बाद से बिजली की काफी कमी महसूस की जा रही है इसलिए पिछले 10 वर्षों में डीजल से चलने वाली मोटरों, पंपों और श्रेशरों का प्रयोग काफी बढ़ा है। बिहार में हमें एक भी बिजली की मोटर या पंपसेट नहीं मिला, सभी डीजल के थे। गरमा धान में एक एकड़ में लगने वाले 5000 रुपये के सिंचाई खर्च के बारे में पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। श्रेशिंग और कटाई की गतिविधियों में मशीनों का प्रयोग जुताई या सिंचाई जितना नहीं है, लेकिन जिन जगहों पर इनका उपयोग शुरू हुआ वहाँ अंत-परंत सीमांत किसानों ने ज़्यादा किराया देकर भी इन्हें अपनाया।

इस पूरे विवरण का कुल हासिल यह है कि सीमांत किसानों के लिए खेत में की जाने वाली इन सब गतिविधियों की प्रति एकड़ लागत मध्यम और बड़े किसानों की तुलना में काफी ज़्यादा होती है। यह

स्थिति हमें सभी राज्यों में देखने को मिलती है। खेत में की जाने वाली इन गतिविधियों की ऊँची लागत पंजाब और बिहार में अलग ही नज़र आती है। पश्चिम बंगाल में इन गतिविधियों के लिए छोटे और बड़े किसानों के खर्च में बहुत फ़र्क नहीं आता है, जिसकी एक वजह तो यह है कि वहाँ बड़े किसान ही बहुत कम बचे हैं, जिनके पास ट्रैक्टर आदि जैसी मँहगी मशीनें हों, और दूसरा कारण यह भी कि गाँव में किसी मशीन से किसी काम को करवाने का भाड़ा कितना होगा, यह स्थानीय पंचायत प्रशासन सीधे अपने नियंत्रण में रखता है।

मशीनों के इस्तेमाल का तर्क

सवाल यह है कि जब छोटे किसानों को किराये की मशीनों का इस्तेमाल करने से लागत ज़्यादा आती है तो वे ऐसा करते ही क्यों हैं? ऐसा नहीं है कि छोटे किसान मशीनों का इस्तेमाल सिर्फ़ बड़े किसानों की देखा-देखी ही करने लगते हों। दरअसल छोटे किसानों के पास धीरे-धीरे बाकी सारे विकल्प ख़त्म हो जाते हैं और अंततः मशीन ही एक मात्र विकल्प बचती है। मिसाल के तौर पर पंजाब में अगर गेहूँ की फसल को हार्वेस्टर से काटा जाए तो उसका किराया लगभग 1300 रुपये प्रति एकड़ तक देना पड़ता है। पंजाब में इंसानी मज़दूरी इतनी मँहगी हो गई है कि अगर कटाई का यही काम मज़दूरों से करवाया जाए तो कटाई व थ्रेशिंग मिलाकर यह खर्च करीब 1300 रुपये ही या उससे अधिक पड़ता है। इसके अलावा मज़दूरों से कटवाने में ज़्यादा वक़्त लगता है इसीलिए किसान अगर संभव हो तो मज़दूर के बजाय, मँहगी होने के बावजूद मशीन को चुनते हैं।

बीज, खाद और कीटनाशकों का इस्तेमाल

जो मशीनों का इस्तेमाल करते हैं, वो उन्नत बीजों, खाद व कीटनाशकों का भी इस्तेमाल करते हैं। लेकिन इन कथित उन्नत बीजों के मायने अलग-अलग मामलों में अलग-अलग होते हैं।

1960 के दशक में हरित क्रांति के आगमन के साथ राष्ट्रीय बीज निगम और राज्य बीज निगमों की स्थापना की गई। बीजों की उन्नत किस्में पैदा करने और किसानों तक उन्हें वितरित करने की

ज़िम्मेदारी राज्य ने अपने कंधों पर ली। 1970 के दशक के बाद बीज उत्पादन का क्षेत्र निजी कम्पनियों के लिए खोल दिया गया और 1980 के दशक में भारत के बीज बाज़ार में बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ भी भारत के बीज बाज़ार में दाखिल हुईं और जल्द ही उन्होंने अपनी मज़बूत जड़ें जमा लीं। फिर भी यह समझना ग़लत होगा कि राज्य सरकारों ने अपने-आप को इस ज़िम्मेदारी से पूरी तरह अलग कर लिया है। हालाँकि देश में बीजों के उत्पादन और वितरण का काम काफ़ी हद तक निजी क्षेत्र को सौंपा जा चुका है, लेकिन अलग-अलग जलवायु के अनुकूल बीजों के विकास व अनुसंधान का काम बहुत हद तक सरकारी कृषि विश्वविद्यालयों व कृषि वैज्ञानिकों के ज़िम्मे है।

पंजाब के किसानों ने बताया कि वे अधिकतर पंजाब कृषि विश्वविद्यालय के द्वारा विकसित किए बीजों की किस्में ही इस्तेमाल करते हैं। बहुत थोड़े किसानों ने पेप्सी कंपनी के बीज धान में इस्तेमाल करने की जानकारी दी। मध्य प्रदेश के किसान इसी तरह राष्ट्रीय सोयाबीन अनुसंधान केन्द्र (एनआरसीएस) द्वारा विकसित बीजों का इस्तेमाल करते हैं। कुछ जगहों पर राज्य सरकारों ने बीज उत्पादन व वितरण की ज़िम्मेदारी अभी भी सरकारी विभागों को ही सौंपी हुई है।

तमिलनाडु में कावेरी डेल्टा क्षेत्र के धान के किसानों की समस्या को हल करने के लिए राज्य द्वारा उठाए गए कदमों का उल्लेख यहाँ प्रासंगिक है। कावेरी डेल्टा क्षेत्र में जुलाई से अक्टूबर के बीच दक्षिण-पश्चिम मानसून से मध्यम वर्षा होती है। उस क्षेत्र में तेज़ बारिश का मौसम अक्टूबर से दिसम्बर के बीच उत्तर-पूर्व मानसून से होता है। इसलिए जुलाई से दिसम्बर के बीच बारिश का थमना कम ही होता है। इन परिस्थितियों में देश के बाकी हिस्सों में आमतौर पर 90 दिनों में पक कर तैयार होने वाली धान की फसल उपजाना मुश्किल होता है। कटक स्थित धान अनुसंधान केन्द्र द्वारा विकसित की गई धान की किस्म सीआर-1009 इन परिस्थितियों के लिए बिल्कुल उपयुक्त है। ये किस्म करीब 140 दिनों में पकती है और उड़ीसा व तमिलनाडु में इसे व्यापक पैमाने पर इस्तेमाल किया जाता है। इसका उत्पादन औसतन

20 क्विंटल प्रति एकड़ और अधिकतम 30 क्विंटल प्रति एकड़ तक आता है। तमिलनाडु के कावेरी डेल्टा क्षेत्र में धान के किसानों को सीआर-1009 का बीज सीधे सरकार द्वारा वितरित किया जाता है और फसल की खरीद भी तमिलनाडु सहकारी आपूर्ति कम्पनी द्वारा की जाती है। तिरुवारूर ज़िले में हमारे सर्वेक्षण किये गए हर किसान ने बताया कि उसे यह सरकारी सुविधा प्राप्त होती है।

इसी तरह आंध्र प्रदेश और तमिलनाडु की सरकारों ने “श्री (SRI) - सिस्टम ऑफ राइस इंटेसिफिकेशन” पद्धति से धान की खेती को कम वर्षा वाले ऊपरी इलाकों में बढ़ावा दिया है। इसका असर भी धान के किसानों की आजीविका सम्भावनाओं पर काफी सकारात्मक हो सकता है।

यह तो हुआ “उन्नत” बीजों की कहानी का एक पहलू। कहानी के दूसरे पहलू को आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र और पंजाब के कपास के खेतों में देखा-सुना जा सकता है। सन् 1998 से 2001 के बीच देश के अलग-अलग कृषि जलवायु क्षेत्रों में कपास के उन बीजों की उपयोगिता और असर को जाँचने के ज़मीनी परीक्षण किए गए जिनकी आनुवांशिकता में परिवर्तन किया गया था। ऐसे बीजों को ट्रांसजैनिक बीज का नाम दिया जाता है। परीक्षणों के दौरान ही इन बीजों के प्रभावों और खतरों की आशंकाओं को लेकर काफी विरोध और विवाद हुआ था। इसके बावजूद भारत सरकार ने मार्च 2002 में बी.टी.कपास के संकर बीज की व्यापक खेती के लिए अनुमति दे दी। ये बीज दुनिया की विशालकाय बहुराष्ट्रीय कम्पनी मॉन्सेन्टो के द्वारा भारत की माहिको (महाराष्ट्र हाइब्रिड सीड कम्पनी लिमिटेड) कम्पनी के सहयोग से विकसित किये गए थे।

तब से अब तक बी.टी. का बीज कपास के खेतों में अविश्वसनीय रूप से बहुत बड़े पैमाने पर फैल चुका है। सन् 2007 तक भारत सरकार की ऐसे बीजों को मान्यता देने वाली एजेन्सी जेनेटिक इंजीनियरिंग एप्रूवल कमिटी (जीईएसी) बी.टी. कपास के 131 संकर रूपों को मान्यता दे चुकी थी जो 24 विभिन्न कम्पनियों ने विकसित

किये थे। बी.टी. का दायरा इससे भी समझा जा सकता है कि सन् 2002 में जहाँ बी.टी.कपास 29,000 हेक्टेयर ज़मीन पर उगाया गया था, वहीं सन् 2007 में इसकी फ़सल 62 लाख हेक्टेयर ज़मीन पर क़ब्ज़ा कर चुकी थी। महाराष्ट्र के विदर्भ क्षेत्र में किये गए एक अध्ययन का अनुमान है कि बी.टी.कपास की खेती में आने वाला ख़र्च ग़ैर-बी.टी.कपास की खेती से 30 से 50 प्रतिशत अधिक होता है। इस अधिक ख़र्च की सबसे बड़ी वजह तो खुद बी.टी. बीज ही हैं, जो बेहद मँहगे हैं। ज़्यादा मँहगे बीजों के साथ ही खेती की ज़रूरी बाकी सभी चीज़ों, मसलन सिंचाई और खाद पर भी ख़र्च ज़्यादा लगता है। अध्ययन बताता है कि इतने सब ख़र्च के बाद बेशक बी.टी. की उत्पादकता भी ज़्यादा है, लेकिन साथ ही बी.टी. के साथ उतना ही ख़तरा भी जुड़ा हुआ है। बी.टी. कपास का बीज पानी के प्रति बहुत संवेदनशील है। अगर वक़्त पर पानी न गिरे तो फसल पूरी तरह भी बर्बाद हो सकती है। इसलिए भले ही किसी एक साल में अच्छी उत्पादकता की अच्छी फसल आये, लेकिन बी.टी. की खेती में फसल तबाह होने की आवृत्ति भी ज़्यादा होती है। बी.टी. कपास की खेती में फसल नष्ट होने की आशंका इसलिए और भी बढ़ जाती है क्योंकि कपास के इलाकों में बी.टी. के नाम पर तमाम तरह के नकली बीज भरे पड़े हैं।

नकली बीजों का कारोबार केवल कपास तक ही सीमित नहीं है। हाल में मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश के बुंदेलखण्ड इलाके के हज़ारों किसान नकली बीजों के शिकार होकर बर्बाद हुए। उनकी उड़द, तिल, चना और सोयाबीन की फसलों में दाने ही नहीं आये। सरकारी एजेन्सी ने निजी कम्पनियों व किसानों द्वारा उत्पादित बीज ख़रीदे थे और फिर सरकारी एजेन्सी के द्वारा ही वह किसानों को वितरित किए गए। जब फसलों में फलन नहीं हुआ और किसानों की परेशानी मीडिया में उछली तो मुख्यमंत्री ने तहकीकात के लिए एक कमिटी के गठन की घोषणा की और कहा कि प्रभावित किसानों को मुआवज़ा दिया जाएगा। लेकिन नकली बीज के लिए ज़िम्मेदार लोगों को सज़ा मिलनी चाहिए – इसका ज़िक्र उनकी घोषणा में कहीं नहीं था। राज्यसभा में लाये जाने वाले

बीज विधेयक 2010 में नकली बीजों के व्यापार के मामलों में एक साल की कैद और 5 लाख रुपये के नकद अर्थदण्ड का प्रावधान ज़रूर है, लेकिन नव-उदारीकरण के बाद बाज़ारों में मची हलातोल को देखते हुए नकली बीजों से मोटा मुनाफ़ा कमाने वालों पर छोटे-मोटे अर्थदण्ड से कोई लगाम लगने वाली नहीं। यदि सरकार वाकई इस मामले में कारगर कदम उठाना चाहती है तो हर स्तर पर जाँच-पड़ताल और रोकथाम का तंत्र विकसित करना होगा और बीज जैसे खेती के बुनियादी हिस्से से निजी कम्पनियों को दूर रखना होगा।

ये तो हुई नकली बीजों की बात, लेकिन जा नकली नहीं असली हैं तो भी क्या हम उसे 'उन्नत बीज' कह सकते हैं और क्यों?

मोन्सेंटो कम्पनी ने बी.टी. कपास के बीज की ऊँची कीमत को यह कहकर जायज़ ठहराया था कि इस बीज को लगाने के बाद किसानों को कीटनाशकों पर खर्च नहीं करना होगा। लेकिन जैसा कि सब जानते हैं, बी.टी. कपास के बीज इस वादे पर खरे नहीं उतर सके। पंजाब की कपास पट्टी में कीटनाशकों का प्रयोग इस भयानक हद तक पहुँच गया है कि वो गाँव वालों की ज़िन्दगी के लिए ख़तरा बन चुका है। भटिण्डा और मानसा ज़िलों में कपास की फसल पर किसान प्रति एकड़ 2500 से 3000 रुपये तक खर्च करते हैं और गेहूँ में यह खर्च 1200 से 1500 रुपये प्रति एकड़ तक है। किसानों का कहना है कि अगर वे इस कदर कीटनाशक का इस्तेमाल न करें तो फसल रोगों या कीड़ों से प्रभावित हो जाती है और उत्पादन अच्छा नहीं होता।

पंजाब से एक रिपोर्ट

स्थानीय लोगों ने ट्रेन नं. 339 को एक भयानक नाम दिया है - "कैंसर ट्रेन"। ये ट्रेन लगभग नियमित तौर से हर बार कम से कम 60 कैंसर मरीज़ों को उनके परिवारों के साथ बीकानेर शहर तक ले जाती है, जहाँ एक सरकारी कैंसर उपचार केन्द्र स्थित है। भारत के सबसे प्रतिष्ठित मेडिकल इंस्टीट्यूट के द्वारा हाल ही में किये गए एक अध्ययन में पाया गया है कि जिन गाँवों में कीटनाशकों का बेतहाशा इस्तेमाल किया जा रहा है वहाँ कैंसर के मरीज़ों की तादाद चौंकाने वाली हद तक ज़्यादा है।

(स्रोत: एनालिटिकल मंथली रिव्यू पत्रिका के अप्रैल 2010 का संपादकीय)

बीज विधेयक 2010 तो इसलिए ही बनाया गया लगता है कि वो देश के बीज बाज़ार पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को अपने बेलगाम घोड़े दौड़ाने की खुली छूट दे दे। ये विधेयक अगर इसी तरह पारित हुआ तो कम्पनियों को पिछले दरवाज़े से ऐसे जीन संवर्द्धित (जैनेटिकली मॉडिफाइड) बीजों को भी बाज़ार में दाखिल करने का मौका मिल जाएगा जिनके असरों और आशंकाओं को ठीक से जाँचा-परखा भी नहीं गया है। साथ ही कम्पनियों को बीजों की ऊँची कीमतें वसूलने का भी अधिकार प्राप्त हो जाएगा। देश के किसान संगठन इस बीज विधेयक के पीछे आने वाली बर्बादी को समझते हुए इसका ज़वर्दस्त विरोध देश भर में कर रहे हैं। इसके बावजूद भारत सरकार भारत की खेती में जीन इंजीनियरिंग के प्रयोगों और बीजों को प्रोत्साहित कर रही है। भारत और अमेरिका के बीच कृषि के ज्ञान-विज्ञान को लेकर होने वाले समझौते “इण्डो-यूएस नॉलेज इनिशिएटिव ऑन एग्रीकल्चर” में जीन इंजीनियरिंग के प्रयोगों को शोध अध्ययनों का एक प्रमुख विषय रखा गया है।

कीटनाशकों का इस्तेमाल

कीटनाशकों का अंधाधुंध इस्तेमाल केवल कपास की खेती तक ही सीमित नहीं है बल्कि इसका दायरा सब्जियों और अन्य खाद्य फसलों तक भी तेज़ी से फैल चुका है।

कीटनाशकों का प्रयोग भी क्षेत्रवार और फसलवार बदलता है। नकद फसलें, जैसे सोयाबीन, कपास, आलू इत्यादि उपजाने वाले किसान तुलनात्मक रूप से कीटनाशकों का ज़्यादा इस्तेमाल करते हैं। धान और गेहूँ जैसी फसलों में कीटनाशकों का प्रयोग अपेक्षाकृत कम है ख़ासतौर से उन इलाकों में जहाँ ये फसलें घरेलू खपत के लिए इस्तेमाल की जाती हैं।

अनेक गाँवों में हमें कीटनाशक दवा कम्पनियों के एजेन्टों को कोसने वाले किसान भी मिले जिन्होंने बताया कि फलाँ-फलाँ एजेन्ट कीटनाशक के अच्छे असरों के बारे में ऊँचे-ऊँचे दावे कर उन्हें मँहगी

दवा बेच गया और उसके बाद न वो कभी नज़र आया और न ही फसल पर दवाओं के अच्छे असर देखने को मिले।

हमारे सर्वेक्षण में ऐसे किसानों की संख्या भी काफी थी जिन्होंने कहा कि वे कीटनाशक का इस्तेमाल तो करते हैं लेकिन उन्हें उसका नाम नहीं पता। जो दुकानदार या बड़ा किसान दे देता है वो वही इस्तेमाल कर लेते हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि जो इस्तेमाल की जाने वाली दवा का नाम जानते हैं वो उसके साथ जुड़े हुए फ़ायदों और ख़तरों को भी समझते हों। करीब एक चौथाई किसानों ने बताया कि वे “एण्डोसल्फ़ान” नाम के कीटनाशक का इस्तेमाल करते हैं। ये कीटनाशक अमेरिका, यूरोप, ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड आदि देशों में प्रतिबंधित है। इस कीटनाशक के घातक असर भारत में पहली बार 1995 में ज़ाहिर हुए, जब केरल के कासरगोड़ ज़िले के ग्रामीणों में गंभीर शारीरिक बीमारियाँ फैलीं।

दरअसल कासरगोड़ में केन्द्र सरकार के स्वामित्व वाले प्लान्टेशन कॉर्पोरेशन ऑफ़ केरल द्वारा काजू के विशाल बागानों पर सन् 1978 से हैलीकॉप्टर द्वारा वर्ष में तीन बार एण्डोसल्फ़ान का छिड़काव किया जाता है। इस कीटनाशक के रसायन आसानी से विघटित नहीं होते। इतने वर्षों तक इसके इस्तेमाल से वहाँ की मिट्टी, पानी और खाद्य श्रृंखला भी प्रदूषित हो चुकी है। अधिकृत सूत्रों के मुताबिक सन् 1995 से अब तक एण्डोसल्फ़ान के छिड़काव से होने वाली मौतों की संख्या 500 बताई जाती है लेकिन अन्य स्रोतों के अनुमान कहते हैं कि यह संख्या करीब 4000 है। लोग अभी भी मारे जा रहे हैं और पैदा होने वाले बच्चे शारीरिक विकृतियों और पैदायशी बीमारियों के साथ पैदा हो रहे हैं।

इतने वर्षों की भीषण त्रासदी और जनता के लगातार विरोध के बाद 20 नवम्बर 2010 को केरल सरकार ने प्रदेश में एण्डोसल्फ़ान का इस्तेमाल प्रतिबंधित कर दिया और प्रभावितों को मुआवज़े की भी घोषणा भी की है। लेकिन दूसरे प्रदेशों में अभी भी इसका प्रयोग अबाध रूप से जारी है।

एण्डोसल्फान की हकीकत केरल की त्रासदी की वजह से सामने आ सकी, लेकिन ऐसे अनगिनत कीटनाशक चुपचाप हमारे खाद्य पदार्थों, हवा और पानी में शामिल होकर हमारी नसों में और हमारी आगे आने वाली नस्लों में भी अपना ज़हर फैला रहे हैं। इन कीटनाशकों के ऐसे ख़तरनाक इस्तेमाल को रोकने के लिए फिर एक बार सरकारी सख़्त नियंत्रण की ही ज़रूरत महसूस होती है। कीटनाशकों का निजी तौर पर उत्पादन व विक्रय बंद कर सरकार को यह ज़िम्मेदारी अपने हाथों में लेनी चाहिये।

उत्पादकता और कुल उत्पादन

खेत में की जाने वाली गतिविधियों और खेती में लगने वाले खाद, बीज, कीटनाशकों आदि पर काफ़ी खर्च आता है। अच्छे उत्पादन की आशा में छोटे और सीमांत किसान किसी तरह इतना खर्च करके ऐसी फसल लेने में अक्सर कामयाब भी हो जाते हैं, जो गुणवत्ता और प्रति एकड़ उत्पादकता के आधार पर बड़े किसानों के बराबर ठहरती है।

अगर मौसम साथ दे, बीज भरोसेमंद हो और रोग या कीड़े फसलों पर हमला न करें तो छोटे और सीमांत किसान आमतौर पर उस क्षेत्र की औसत उत्पादकता या कभी-कभी उससे ज़्यादा भी हासिल कर लेते हैं। लेकिन उनकी ज़मीन के छोटे आकार के आगे अच्छी उत्पादकता भी लाचार रहती है और कुल उत्पादन एक सीमा से आगे नहीं बढ़ पाता। पश्चिम बंगाल के अमन धान उत्पादक किसानों का उदाहरण लें। पश्चिम बंगाल और बिहार, दोनों ही राज्यों में बहुत छोटी खेती की ज़मीनों वाले किसानों का अनुपात काफ़ी बड़ा है। खेती करने वाले लगभग 30 प्रतिशत परिवारों के पास आधे एकड़ से कम ज़मीन है। हम इस श्रेणी के अंतर्गत सर्वे किए गए किसानों के औसत आँकड़ों को यहाँ दे रहे हैं। इस श्रेणी में प्रत्येक परिवार के पास 0.34 एकड़ खेती की ज़मीन है। इस श्रेणी के किसान अमन धान पैदा करने के लिए औसतन 1800 रुपये खर्च करते हैं और औसतन 5.3 क्विंटल धान पैदा करते हैं। यानि उत्पादकता 15–16 क्विंटल प्रति एकड़ है। चूँकि अमन धान घरेलू खपत

की फसल है इसलिए इस श्रेणी में औसतन 4.5 क्विंटल अमन धान घरेलू खपत में इस्तेमाल की जाती है और 0.8 क्विंटल बाज़ार में बेची जाती है। सन् 2008 में पश्चिम बंगाल के गाँवों में अमन धान की कीमत 700 रुपये प्रति क्विंटल थी। स्पष्टतः, 0.8 क्विंटल अमन धान बेचकर एक किसान परिवार को 560 रुपये हासिल हुए। इस तरह अमन धान पैदा करने पर उसे तीन क्विंटल चावल (4.5 क्विंटल धान) हासिल हुए और 1240 रुपये का शुद्ध नुकसान।

दूसरी ओर, अगर फसल नष्ट हो जाती है तो सीमांत या छोटे किसानों के पास ऐसा कोई सहारा नहीं रहता जिससे वो उस आघात को झेल सकें। मान लीजिए अमन धान की उत्पादकता पूरे क्षेत्र में ही 15 क्विंटल प्रति एकड़ से घटकर किसी वजह से 5 क्विंटल प्रति एकड़ रह जाती है, तो ऐसे में जिस किसान के पास 20 एकड़ ज़मीन होगी, वो घटी उत्पादकता के बावजूद 100 क्विंटल धान पाएगा (जो वो अनुकूल परिस्थितियों में 300 क्विंटल पाता), लेकिन 0.34 एकड़ ज़मीन जोतने वाले किसान को सिर्फ 1.7 क्विंटल धान की उपज मिलेगी जो उसके घर की ज़रूरतों के लिए भी नाकाफ़ी है। किसी न किसी वजह से फसलों का नष्ट होना बहुत अस्वाभाविक बात नहीं है। हमारे अध्ययन में अनेक गाँवों में ऐसी दुर्घटनाएँ दर्ज हुईं। उदाहरण के तौर पर बर्दवान ज़िले के गोपीनाथपुर में धान की फसल ख़राब हुई, पूरे हुगली ज़िले में आलू की फसल नष्ट हुई (पश्चिम बंगाल); सागर ज़िले के विनायका और बंगेला गाँवों में, उज्जैन ज़िले के रुद्रखेड़ा गाँव में सोयाबीन, चना और गेहूँ की फसल नष्ट हुई (मध्य प्रदेश); निशा चक्रवात की वजह से तिरुवारूर ज़िले के मुवाकल्लूर और मरुदावनम गाँवों में धान की फसल तबाह हुई (तमिलनाडु); अमरावती में कपास की फसल (महाराष्ट्र) और जालंधर ज़िले में गेहूँ की फसल (पंजाब) बर्बाद हुई। इन किसानों के पास अगली फसल लेने के लिए ज़रूरी खाद-बीज भी नहीं बच पाता है।

सीमांत किसानों का एक ऐसा समूह भी है जो ऐसे भौगोलिक और जलवायु क्षेत्रों में है जहाँ खेती की मशीनों, सिंचाई के साधनों और खाद, कीटनाशकों आदि ज़रूरी चीज़ों तक उनकी पहुँच नहीं है। मध्य

प्रदेश के अनूपपुर और बैतूल ज़िलों के किसान, बिहार में मधुबनी ज़िले के किसान, महाराष्ट्र में रायगढ़ और नासिक ज़िलों के कुछ इलाकों के किसान इस समूह में आते हैं। अनूपपुर ज़िले में हमने 30 सीमांत किसानों का अध्ययन किया जो खरीफ़ में धान की फसल लगाते हैं। उनमें से सिर्फ़ 5 ही अपने खेतों को ट्रैक्टर किराये पर लेकर जोतते हैं, 4 बीज पर थोड़ा-बहुत खर्च करते हैं, 6 थोड़ी-बहुत खाद खरीदकर खेतों में डालते हैं और कीटनाशक का इस्तेमाल 30 में से एक भी नहीं करता। इन किसानों की उत्पादकता 1 से 3 क्विंटल धान प्रति एकड़ की रही थी। (आंध्र प्रदेश, पंजाब और पश्चिम बंगाल में धान की उत्पादकता 15 से 25 क्विंटल प्रति एकड़ के बीच रहती है)। इन 30 सीमांत किसानों में से एक भी किसान इतना उत्पादन नहीं करता है कि वो अपनी फसल के थोड़े-बहुत हिस्से को बाज़ार में ले जा सके।

बाज़ार के हाशिये पर

जो छोटे और सीमांत किसान नकद फसलें उपजाते हैं या जिनकी उपज इतनी रहती है कि वे उसके एक हिस्से को बाज़ार में ले जा सकें, अब्बल तो उनकी संख्या ही बहुत कम होती है, और अपनी छोटी सी उपज के साथ बाज़ार में मोल-भाव करने की उनकी हैसियत भी मज़बूत नहीं होती। कृषि उपज के उठते-गिरते बाज़ार और बाज़ार की इस अस्थिरता पर किसानों की प्रतिक्रिया गाहे-बगाहे ख़बरों में आती रहती है। पिछले वर्ष हमने उत्तर प्रदेश और हरियाणा के गन्ना उत्पादक किसानों द्वारा अपनी खड़ी फसलों को खेत में ही जला डालने की ख़बरें सुनी थीं। उसके कुछ साल पहले पश्चिम बंगाल के हुगली और बर्दवान ज़िलों के आलू उत्पादक किसानों ने अपनी आलू की फसल सड़कों पर फेंक दी थी। बताते हैं कि आलू की कीमतें इतनी नीचे गिर गई थीं कि किसानों को बाज़ार से आलू वापस ले जाने का भाड़ा भी मँहगा पड़ रहा था। अनेक किसान कोल्ड स्टोरेज में रखा हुआ अपना आलू वापस लेने ही नहीं गए क्योंकि आलू बेचकर कोल्ड स्टोरेज का किराया भी नहीं निकल रहा था।

खेती की जिंस्सों के व्यापार को निजी और अंतरराष्ट्रीय व्यापार के लिए खोल दिए जाने से विश्व बाज़ार में उठने-गिरने वाली कीमतों का सीधा असर हमारे किसानों पर पड़ता है। केरल के किसानों पर इसका सबसे ज़्यादा असर देखने को मिला। केरल के किसानों का अधिकतर उत्पादन निर्यात बाज़ार में जाता है। बाज़ार के उतार-चढ़ाव की समस्या का समाधान पूँजीवाद वायदा सौदों (फॉरवर्ड ट्रेडिंग) और ठेका खेती (कॉन्ट्रैक्ट फार्मिंग) जैसे तरीकों से ढूँढने की कोशिश करता है। वायदा सौदों के भीतर होने वाली सट्टेबाज़ी परिस्थितियों को सुलझाने की बजाय और उलझा देती है। सन् 2008 की शुरुआत में खाद्य पदार्थों की कीमत में सारी दुनिया में आयी भयानक तेज़ी काफ़ी हद तक खेती की जिंस्सों की अंतरराष्ट्रीय सट्टेबाज़ी का ही नतीजा थी।

देश के किसान लगातार घरेलू बाज़ारों को सुरक्षा देने की माँग करते रहे हैं लेकिन सरकार उन्हें अनसुना कर बिल्कुल योजनाबद्ध तरह से सभी नियंत्रण ख़त्म कर चुकी है और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को हमारे कृषि बाज़ारों में सीधे हस्तक्षेप की अनुमति दे चुकी है। आज़ादी के बाद के दौर में देश की सरकार ने ऐसे कदम उठाये थे जिनसे किसानों को उनका न्यायसंगत हिस्सा मिल सके। ग्रामीण स्तरों पर किसानों की फसल को उचित दाम पर ख़रीदने के लिए सहकारी समितियाँ कायम की गई थीं। साफ़-सुथरे व्यापार को सुनिश्चित करने और उचित कीमतें तय करने के लिए भारतीय खाद्य निगम और भारतीय कपास निगम जैसे संस्थान बनाये गए। 1970 के दशक के दौरान हर राज्य सरकार ने कृषि उपज विपणन अधिनियम (एग्रीकल्चरल प्रोड्यूस मार्केटिंग कमीटी एक्ट - एपीएमसी एक्ट) बनाये और लागू किए। इस अधिनियम के मुताबिक कृषि उपज को सरकार द्वारा नियंत्रित कृषि मण्डियों में खुली नीलामी द्वारा ही ख़रीदा या बेचा जा सकता था। देश में ऐसी 7177 मण्डियाँ हैं। अगर किसी कम्पनी को फसल ख़रीदनी होती तो उसे भी इन मण्डियों के भीतर ही सौदा करना होता था। वक़्त बीतने के साथ-साथ गाँवों के स्तर पर कायम की गई सहकारी समितियाँ अपना भरोसा खो बैठीं और अधिकतर जगहों पर अब वे निष्क्रिय हैं।

सन् 2003 में भारत सरकार ने सभी राज्य सरकारों को अपने-अपने कृषि उपज विपणन संबंधी क़ानूनों में संशोधन करने के निर्देश दिये। अब ये संशोधित क़ानून निजी कम्पनियों को मण्डी प्रांगण के बाहर फसल ख़रीदने की और अपनी स्वयं की मण्डी कायम करने की इजाज़त देते हैं। इस मामले में तेज़ी से कदम बढ़ाकर आगे आयी आई.टी.सी. कम्पनी और उसके व्यापक रूप से फैलाये गए ई-चौपालों के संजाल ने किसानों से बड़े पैमाने पर सीधी ख़रीद की सुखियाँ बनायीं। कृषि उपज विपणन के संशोधित क़ानूनों ने ठेका खेती या संविदा खेती को भी क़ानूनन इजाज़त दे दी। इस प्रावधान से कम्पनियों ने अपनी ज़रूरतों के मुताबिक खेती की ज़मीन के विशाल हिस्सों पर किसानों से अपनी मनचाही फसलें पैदा करवाना शुरू कर दीं।

ठेका खेती हो या ई-चौपालों का संजाल, दोनों में ही कम्पनियाँ सिर्फ़ उन्हीं किसानों से वास्ता रखती हैं जिनके पास ठीक-ठाक संसाधन और उत्पादन का आधार हैं। संसाधनहीन छोटे और सीमांत किसान उनके दायरे के बाहर ही छूट जाते हैं। इतना ही नहीं कृषि उपज के बाज़ार में बड़ी कम्पनियों के प्रवेश से सरकारी मण्डियों, गाँव के छोटे व्यापारियों और छोटी प्रसंस्करण इकाईयों, सभी का हाल ख़राब हुआ है। नतीजा यह है कि छोटे किसानों की जिस कृषि उपज के बाज़ार में पहले ही कमज़ोर उपस्थिति थी, वो अब और भी कमज़ोर हुई है और कोई नया विकल्प उनके लिए दूर-दूर तक नज़र नहीं आता।

नो एन्ट्री

मध्य प्रदेश में आईटीसी कम्पनी ने सोयाबीन ख़रीद के लिए बनाये गए अपने ख़रीदी केन्द्रों पर फसल की सही तौल के आधुनिक इलेक्ट्रॉनिक उपकरण लगाये। इसमें अनाज से भरी हुई गाड़ी इलेक्ट्रॉनिक तौल कांटे पर तौली जाती है, उसके बाद अनाज खाली करने के उपरांत खाली गाड़ी का वजन ले लिया जाता है। दोनों का अंतर उपज का वज़न बता देता है। छोटे किसान इतना अनाज ही नहीं पैदा कर पाते कि वो गाड़ी भर कर सोयाबीन आईटीसी की चौखट तक ले जा सकें। और इस तरह वो आईटीसी के ख़रीद केन्द्रों से अपने आप ही बाहर रह जाते हैं।

खेती से आमदनी, अन्य आमदनी और कर्ज

कुल उत्पादन का सीधा रिश्ता ज़मीन की हद और पानी की उपलब्धता से जुड़ा है। अब्बल तो घरेलू खपत के बाद छोटे किसानों के पास बाज़ार में बेचने लायक कुछ बचता ही नहीं। अगर वो अपनी छोटी ज़मीन पर किसी तरह इतनी पैदावार कर भी लें कि फसल बेचने बाज़ार में जा सकें, तो भी, अधिकतर बार उनकी लागत भी नहीं निकल पाती। अक्सर वही सीमांत किसान अपनी फसल बाज़ार में ले जाते हैं जो नकद फसलें उगाते हैं। लेकिन ऐसे किसानों की तादाद बहुत कम होती है।

अगर लागत निकल भी आए तो भी ज़िन्दगी चलाने के लिए ज़रूरी माल-असबाब के इंतज़ाम के लिए लगभग हर छोटे और सीमांत किसान को अतिरिक्त आमदनी की ज़रूरत होती है, जिसे पूरक आमदनी कहा जा सकता है। ये पूरक आमदनी वो मज़दूरी करके कमाते हैं, मवेशियों और उनके उत्पादों के व्यवसाय से हासिल करते हैं, अपनी छोटी-मोटी दुकानों या ग़ैर कृषि गतिविधियों से भी ये पूरक आमदनी हासिल करते हैं। रोज़गार की तलाश में मौसमी या स्थायी रूप से पलायन कर चुके परिवार के सदस्यों द्वारा भेजी जाने वाली राशियाँ भी उनकी पूरक आमदनी में जोड़ी जा सकती हैं। पूरक आमदनी का आकार बहुत सारी बातों पर निर्भर करता है और हर परिवार के पास इसके बारे में अपनी अलग कहानी होती है। फिर भी कुछ मोटे रुझान ढूँढ़े जा सकते हैं। अधिकतर मामलों में इस पूरक आमदनी का सबसे बड़ा भाग परिवार के सदस्यों की मज़दूरी से हासिल किया जाता है।

दरअसल मज़दूरी से होने वाली आमदनी इतनी प्रमुख होती है कि वो खेती से होने वाली आमदनी का 2-3 गुना होती है। एनएसएसओ की रिपोर्ट क्रमांक 497 के मुताबिक 1.25 एकड़ ज़मीन से कम पर खेती करने वाले लोगों को सन् 2002-03 में खेती से 296 रुपये मासिक की आमदनी होती थी और उसी श्रेणी की मज़दूरी से होने वाली मासिक आमदनी 973 रुपये होती थी। इस तरह के किसान जिनके पास थोड़ी ज़मीन है और आखिरकार जिन्हें मज़दूरी से जीवन-यापन करना पड़ता है, उन्हें खेतिहर मज़दूर किसान की श्रेणी में रख दिया जाता है।

खेती में शामिल लोगों को किसान और मज़दूर, इन दो श्रेणियों में देखा जाता है। इसके आगे मज़दूर श्रेणी को फिर दो श्रेणियों में बाँटा जाता है - एक वे जो भूमिहीन खेत मज़दूर हैं, और दूसरे वे जिनके पास खुद की भी खेती की थोड़ी बहुत ज़मीन है या दूसरे शब्दों में जो मज़दूर भी हैं और किसान भी। चूँकि खेती से उनकी आमदनी कम होती है और मज़दूरी से ज़्यादा इसलिए कुछ विद्वान उनकी प्रमुख पहचान मज़दूर के रूप में कर ऐसी अनुशंसाएँ करते हैं जो उनकी खेती को सुदृढ़ बनाने के बजाय उनकी मज़दूरी बढ़ाने के उपायों पर केन्द्रित रहती हैं। हमारे मुताबिक इस तरह का विभाजन ग़लत है और इससे सीमांत किसानों की किसान पहचान धूमिल होती है।

हमारे सर्वेक्षण में हमने पाया कि जिन जगहों पर मवेशियों से होने वाली मासिक आमदनी 500 से 1000 रुपये के बीच होती है और सीमांत किसानों की कुल आमदनी का एक बड़ा हिस्सा बनती है उनमें पंजाब के सभी ज़िले, बिहार का खगड़िया ज़िला, मध्य प्रदेश का उज्जैन ज़िला, आंध्र प्रदेश का कृष्णा ज़िला, पश्चिम बंगाल के हुगली और बीरभूम ज़िले, महाराष्ट्र का अमरावती ज़िला और तमिलनाडु के तिरुवन्नामलाई व सेलम ज़िले आते हैं।

बिहार में इस पूरक आमदनी का बड़ा हिस्सा परिवार के उन सदस्यों द्वारा जोड़ा जाता है जो खेत मज़दूरी के लिए दूसरे राज्यों में पलायन कर जाते हैं। मज़दूरी की ऐसी माँग खेती के कुछ ख़ास कामों के लिए कुछ ख़ास मौकों पर ज़्यादा होती है। कुछ हफ्तों या महीनों

तक धान की रोपाई या कपास की चुनाई या गेहूँ की कटाई जैसे काम करने के बाद हासिल मज़दूरी को लेकर ये मज़दूर-किसान वापस अपने गाँव लौट आते हैं। लेकिन ऐसे भी किसान परिवार होते हैं जहाँ के पुरुष क़रीब-क़रीब स्थायी तौर पर अपना घर-परिवार छोड़ दूसरे इलाकों में चले गए होते हैं और वे वहाँ से अपने गाँव सिर्फ़ बुवाई या कटाई के मौके पर ही लौटते हैं। बाकी वक़्त खेत और परिवार की ज़िम्मेदारी घर की महिलाओं और बुजुर्गों के कंधों पर रहती है। ऐसे कई परिवारों में जहाँ महिलाएँ ही घर के मुखिया की ज़िम्मेदारी निभा रही हैं, हमने पाया कि वो 1-2 गाय भी पाले हुए हैं जिनका दूध बेचकर वे इस पूरक आमदनी को बढ़ाने के लिए कुछ और ज़ोर लगाती हैं।

पंजाब और केरल में अनेक परिवारों ने यह बताया कि उनकी सालाना आमदनी का बहुत बड़ा भाग विदेश जा बसे उनके परिवारजनों या रिश्तेदारों द्वारा भेजा जाता है। इससे उनका संसाधन आधार भी बेहतर है और उन्हें मज़दूरी करने की बहुत कम ज़रूरत पड़ती है। दोनों ही राज्यों में सीमांत और छोटे किसानों की मज़दूरी से होने वाली आमदनी का हिस्सा दूसरे राज्यों की तुलना में कम है।

दुःख की बात तो ये है कि ये छोटे किसान के लिए खेती और पूरक आमदनी मिलाकर भी इतना नहीं जुटा पाते कि उनका गुज़ारा ठीक से हो सके। हमारे अध्ययन में 90 प्रतिशत सीमांत किसान परिवारों ने कहा कि उनकी आमदनी उनकी ज़रूरतों को पूरा नहीं कर पाती। एनएसएसओ के आँकड़े भी इस बात की पुष्टि करते हैं, जो बताते हैं कि पूरे देश के स्तर पर 1.25 एकड़ से कम पर खेती करने वाले किसान परिवारों की मासिक आमदनी (खेती की आमदनी और पूरक आमदनी मिलाकर) 1633 रुपये होती है जबकि हर महीने इस श्रेणी के परिवारों का खर्च 2427 रुपये होता है। इससे थोड़ी ज़्यादा ज़मीन वाले, 1.25 से 2.5 एकड़ तक के किसानों की मासिक आमदनी 1809 रुपये है जबकि उनका मासिक खर्च 2768 रुपये। कम आमदनी और ज़्यादा खर्च का एक रुझान सीमांत किसानों में सभी राज्यों में, यहाँ तक कि पंजाब में भी दिखाई देता है।

जब खर्च आमदनी से ज़्यादा होता है, और ऐसा बार-बार होता रहता है, तो लोग आमदनी और खर्च के इस फ़र्क को पाटने के लिए कर्ज़ का सहारा लेते हैं।

कर्ज़

एनएसएसओ की रिपोर्ट क्रमांक 498 में बताया गया है कि देश के 48.6 प्रतिशत किसान परिवार कर्ज़दार हैं। सबसे ज़्यादा कर्ज़ का फैलाव आंध्र प्रदेश में है जहाँ 82 प्रतिशत किसान परिवार कर्ज़ के बोझ में दबे हैं। इससे अगली सीढ़ी पर 74 प्रतिशत के साथ तमिलनाडु और फिर केरल, पंजाब और कर्नाटक आते हैं जहाँ 60–65 प्रतिशत किसान कर्ज़दार हैं। अलग-अलग ज़मीनों के आकार के साथ कर्ज़ की रकम और कर्ज़ के असर भी बदलते हैं। देश के स्तर पर केवल 45 प्रतिशत सीमांत किसान कर्ज़दार बताए जाते हैं जबकि 25 एकड़ से ज़्यादा वाले 66 प्रतिशत किसान कर्ज़दार हैं। इसी तरह सीमांत किसानों के लिए कर्ज़ की औसत बकाया राशि 6000 से 8000 रुपये के बीच है और बड़े किसानों के लिए यह औसत 76000 रुपये आता है।

एनएसएसओ की रिपोर्ट में बताये गए बड़े किसानों पर भारी-भरकम कर्ज़ की वजह यह है कि उनकी बड़े कर्ज़ दे सकने वाले संस्थानों तक पहुँच है। दूसरी तरफ सीमांत किसान ज़्यादातर कर्ज़ अनौपचारिक स्रोतों से लेते हैं। आंध्र प्रदेश में यह फ़र्क हैरतअंगेज़ है। वहाँ सीमांत किसानों के मौजूदा कर्ज़ के 15 फीसदी मामलों में कर्ज़ का स्रोत बैंक रहे हैं जबकि 60 प्रतिशत कर्ज़ साहूकारों व अनौपचारिक स्रोतों से लिये गए हैं। बड़े किसानों के मामले में मौजूदा कर्ज़ों का 45 प्रतिशत हिस्सा बैंकों से लिया गया और सिर्फ़ 20 प्रतिशत साहूकारों व अन्य स्रोतों से। अगर कर्ज़ के मक़सद को देखें तो भी बड़े और छोटे किसानों के बीच का यह फ़र्क साफ़ नज़र आता है। जहाँ बड़े किसान कर्ज़ लेकर खेती में पूँजी निवेश करते हैं, खेती का सामान ख़रीदते हैं वहीं छोटे किसानों के कर्ज़ का एक बड़ा हिस्सा उनकी घरेलू ज़रूरतों, शादियों और अन्य ज़रूरी ख़र्चों के लिए भी इस्तेमाल होता है।

बैंकों द्वारा कर्ज पर वसूले जाने वाले ब्याज की दर 7 से 12 प्रतिशत के बीच रहती है, जबकि साहूकारों द्वारा 24 प्रतिशत, 36 प्रतिशत और कहीं-कहीं तो 60 प्रतिशत तक ब्याज वसूला जाता है। आंध्र प्रदेश में साहूकारों का स्वरूप बदल गया है। वे पुराने किस्म के महाजन या साहूकार नहीं हैं, अब वहाँ ढेर सारे ऐसे वित्तीय संस्थान पनप गए हैं जो अपने-आप को बैंक और माइक्रोफाइनेंस एजेंसीज़ कहते हैं। हमारे अध्ययन में आंध्र प्रदेश के चारों जिलों के सभी 96 गाँवों में इन माइक्रोफाइनेंस कम्पनियों की मौजूदगी पायी गई। गाँव वालों ने बताया कि ये माइक्रोफाइनेंस कम्पनियाँ हफ़्तावार और/या पखवाड़ावार वसूली करती हैं, चक्रवृद्धि ब्याज वसूलती हैं और कर्ज की रकम न लौटा पाने की स्थिति में कर्जदार को सार्वजनिक रूप से बेइज्जत करती हैं। कुछ जगहों से ये शिकायतें भी मिली हैं कि कर्ज न चुका पाने की स्थिति में कम्पनियों के भाड़े के गुण्डों ने कर्जदार परिवार के सदस्य को बंधक बना लिया। अनंतपुर जिले के टिप्पेपल्ली गाँव में हमें ऐसे दो किसान मिले जिन्होंने 4000 और 5000 रुपये का कर्ज 1998 में लिया था, जो अब बढ़कर क्रमशः 25,000 और 40,000 रुपये हो गया है। वारंगल जिले में हमने चार गाँवों का सर्वेक्षण किया जिनमें से तीन गाँवों में हमें किसानों द्वारा आत्महत्या करने के मामले मिले। इन आत्महत्याओं की वजह आर्थिक परेशानियाँ बतायी गईं। हमें बुरहानपुर गाँव में 15, कृष्णाजीगुड़म में 6 और रामतीर्थम गाँव में 4 किसानों की आत्महत्या के मामले बताये गए।

एक तरफ हमारे पास आंध्र प्रदेश के ग़रीब किसान हैं जो शोषणकारी शर्तों पर कर्ज लेते हैं और चुका न पाने पर अपनी जान दे देते हैं। दूसरी तरफ बिहार, पश्चिम बंगाल या महाराष्ट्र के ऐसे किसान हैं जो कर्ज की सीढ़ी ही नहीं चढ़ पाते। बिहार में कर्जदार किसान केवल 33 फीसदी हैं, पश्चिम बंगाल में बहुत सारे किसानों ने बताया कि वो कर्ज नहीं लेते लेकिन साथ ही उन्होंने यह भी बताया कि वे अपनी रोज़मर्रा की ज़रूरतों का सामान, राशन या खेती के काम में आने वाली दवा, खाद उधार ख़रीदते हैं। गाँव का बनिया इन सामानों

पर या तो उनसे अधिक कीमत लेकर अपना ब्याज वसूलता है या फिर इन छोटे-छोटे कर्जदार किसानों को अपनी फसल उसे सस्ते दामों पर बेचनी पड़ती है।

महाराष्ट्र के रायगढ़ ज़िले में, जो अन्यथा काफी ग़रीब इलाका है, जब किसानों ने कर्ज लेने के सवाल पर इन्कार में जवाब दिया तो हमने ख़ास पूछताछ की कि क्या वे बंगाल के किसानों की ही तरह अपनी रोज़मर्रा की ज़रूरतों का सामान स्थानीय दुकानदार से उधार लेते हैं। कुछ ने कहा कि दुकानदार उन्हें उधार पर कुछ देता ही नहीं और बाकियों ने बताया कि वे कर्ज लेने से डरते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि वे उस कर्ज को कभी चुका नहीं पाएँगे। इस तरह वे जीने के लिए न्यूनतम ज़रूरी चीज़ों की खपत में भी लगातार कटौती करते जा रहे हैं।

कर्ज के द्वारा सभी किसान अपनी ज़रूरतें पूरी नहीं कर सकते और हमेशा के लिए तो कोई भी नहीं कर सकता। फिर एक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में किसानों की इस समस्या का क्या समाधान है? पूँजीवाद के नियमों में हारने वाले के लिए सिर्फ़ एक ही रास्ता होता है कि वो मैदान से बाहर हो जाए। कर्ज के चक्र में घिरे किसान परिवारों के पास एक रास्ता ये होता है कि वे अपनी ज़मीन छोड़ दें और खेतिहर मज़दूर तबके की जमात में से नीचे खिसककर भूमिहीन खेत मज़दूरों की जमात का हिस्सा बन जाएँ। वो ये भी तय कर सकते हैं कि खेती को ही पूरी तरह अलविदा कहकर शहरों में यहाँ-वहाँ भटकते मज़दूर चौकों पर रोज़गार की आस में जमा होती अनौपचारिक शहरी मज़दूर जमात में शामिल हो जाएँ। लेकिन यहाँ भी कदम रखने के लिए तिल भर जगह नहीं है। आख़िरकार एक किसान के पास यही रास्ता बचता है कि वो इस दुनिया को ही पूरी तरह अलविदा कह दे। सन् 1997 से अब तक भारत के करीब 2 लाख किसानों ने खुदकुशी करके उसी रास्ते को अपनाया है।

साझा उत्पादन आधार की ज़रूरत

बेशक देश के अलग-अलग हिस्सों में रहने वाले 7 करोड़ सीमांत किसान परिवारों के पास खेती के संसाधन, उत्पादन के तौर-तरीके और उत्पादन अलग-अलग हैं लेकिन उनमें दो समानताएँ स्पष्ट रूप से देखी जा सकती हैं। पहली यह कि खेती से होने वाली आमदनी, जिसमें मवेशियों से होने वाली आमदनी को भी अगर जोड़ लिया जाए तो भी यह खेती की लागत व परिवार की ज़रूरतों को पूरा करने में काफी नहीं होती। सभी सीमांत किसानों के लिए पूरक आमदनी ज़रूरी होती है। दूसरी समानता ये है कि सभी किसान इस पूरक आमदनी को हासिल करने के लिए मज़दूरी करते हैं। यानि उनके पास अतिशेष श्रम (Surplus labour) मौजूद है। उनके इस अतिशेष श्रम का इस्तेमाल शोषक बाज़ारों द्वारा मुनाफ़ा कमाने के लिए किया जाता है।

खेती का सवाल एक बड़ा प्रश्नचिन्ह बनकर पूरी भारतीय अर्थव्यवस्था के चेहरे पर चस्पा हो गया है। खेती में ज़रूरत से ज़्यादा तादाद में मौजूद लोग ज़मीन के छोटे-छोटे व नाकाफ़ी हिस्सों पर गुज़र कर रहे हैं और उन्हें इसमें ठूँसे रखना संभव नहीं है। इस संकट को हल करने के लिए नव-उदारवादी पूँजीवादी व्यवस्था की प्रतिक्रिया यह है कि खेती को आधुनिक व सुगठित कर दिया जाए और इसमें विशालकाय कम्पनियों को दाखिल कर दिया जाए। इस तरह ज़रूरत से ज़्यादा मौजूद अतिशेष मज़दूर अपने आप इस क्षेत्र के बाहर फिंक जाएँगे। ज़ाहिर है पूँजीवाद के विकास के जो मायने हैं उसमें खेती में मेहनत करने वाले लोगों की तकलीफ़ें उनकी चिंता का विषय नहीं हैं।

इस विकास प्रक्रिया में प्रभावी हस्तक्षेप के लिए ज़रूरी है कि किसान एक साथ इकट्ठे होकर आगे आएँ। सबसे पहले तो जातिगत और धार्मिक भेदभाव को पार करके राजनीतिक रूप से इकट्ठा होना बेहद ज़रूरी है, लेकिन राजनीतिक रूप से इकट्ठे होने के और आगे जाकर ये भी सोचना चाहिए कि खेतों को इकट्ठा कर उत्पादन का सहकारी आधार तैयार किया जा सके। इससे छोटे और संसाधनहीन किसान नव-उदारवादी बाज़ारों में सामूहिक उत्पादन आधार की ताक़त के साथ मोर्चा ले सकेंगे।

कोऑपरेटिव की ताक़त

अगर 10–15 किसान अपने खेतों को साझा कर 15–20 एकड़ का एक खेत बना लें तो इस कोशिश से बहुत सारी संभावनाएँ खुल सकती हैं। पानी का इंतज़ाम बेहतर तरीके से किया जा सकता है, मशीनों से किये जाने वाले खेती के काम बेहतर दक्षता के साथ हो सकते हैं। इससे फसल चुनने के दायरे को भी बढ़ाया जा सकता है। खेती के लिए ज़रूरी सामान और खेती की उपज दोनों के बाज़ार में इन किसानों की संयुक्त ताक़त इन्हें मोल-भाव करने में मज़बूत हैसियत देगी ही, और नुकसान की आशंकाओं का भार भी किसी एक अकेले पर नहीं पड़ेगा, बल्कि समूह की ताक़त से आशंकाओं का सामना बेहतर तरह से हो पाएगा। कोऑपरेटिव से ये सभी फायदे तो होंगे ही साथ ही छोटे-छोटे खेतों में मौजूद अतिशेष श्रम को भी सामूहिक तौर से कोऑपरेटिव में बेहतर इस्तेमाल किया जा सकेगा। इस सामूहिक श्रम का इस्तेमाल कोऑपरेटिव के लिए ज़रूरी बुनियादी ढाँचागत सुविधाओं के निर्माण के लिए किया जा सकता है। ऐसी कृषि प्रसंस्करण इकाईयाँ बनायी जा सकती हैं जिनका रिश्ता कोऑपरेटिव के साथ सीधे जुड़ा हो। इस तरह से मेहनतकश लोगों के श्रम को खेती के अलावा अन्य उत्पादक गतिविधियों में सुनियोजित ढंग से लगाया जा सकता है, ताकि उन्हें गरिमापूर्ण जीवन और बेहतर जीवन परिस्थितियाँ हासिल हो सकें। फसल की पैदावार के कोऑपरेटिव बनाने का अर्थ यह नहीं है

कि किसानों को अपनी ज़मीन का मालिकाना हक छोड़ना होगा, इसका अर्थ केवल यह है कि खेतों को इस तरह इकट्ठा किया जाए कि वहाँ उत्पादन साझा तरह से हो सके। इस तरह के कोऑपरेटिव से होने वाली आमदनी और उत्पादन हर सदस्य के बीच उसके संसाधन और उसकी मेहनत के मुताबिक आपस में बाँटे जा सकते हैं।

ऐसे कोऑपरेटिव की बिल्कुल ठीक-ठीक शक्ल क्या होगी, ये तो उसके सदस्य ही तय करेंगे जो अपने संसाधनों को इकट्ठा कर कोऑपरेटिव बनाएँगे। फिर भी कोऑपरेटिव कायम करने की किसी भी कोशिश में दो मुद्दों पर समझ बिल्कुल साफ़ होनी चाहिए। पहला तो यह कि कोई भी साझा कोशिश तभी कामयाब होती है जब उसके साझेदार बराबर हों। ग़ैर-बराबर साझेदारों में होने वाला सौदा ग़ैर-बराबरी का ही होता है। **इसलिए छोटे और सीमांत किसानों के कोऑपरेटिव कायम करते वक़्त उसकी सदस्यता का प्रमुख आधार यह होना चाहिए कि उसके किसी सदस्य के पास निश्चित सीमा से ज़्यादा संसाधन न हों।** दूसरा मुद्दा यह है कि ग़रीब किसानों के ऐसे सामूहिक प्रयत्नों को दोतरफ़ा हमलों से निपटने के लिए तैयार रहना होगा। एक तरफ़ से भारतीय ग्राम समाज की सामंती पृष्ठभूमि और दूसरी तरफ़ नव-उदारवादी बाज़ारों का बर्बर स्वरूप इन को सहन नहीं कर पाएँगे। वो ग़रीब किसानों के ऐसे कोऑपरेटिवज़ को ख़त्म करने और अव्यावहारिक साबित करने की हर संभव कोशिश करेंगे। **इसलिए किसानों के ऐसे कोऑपरेटिव बनाने की मुहिम में यह शामिल होना चाहिए कि उन्हें राज्य का सहयोग व समर्थन हासिल हो।**

ऐसी सहकारी संस्थाओं का अनुभव भारत के गाँवों में दशकों पुराना है जहाँ से किसानों को कर्ज़ और खेती के लिए ज़रूरी खाद-बीज आदि मिलते रहे हैं। कृषि उपज सहकारी मण्डियाँ भी किसानों के उत्पादन की ख़रीद-फरोख़्त में काफ़ी समय से कार्यरत हैं। ये सच है कि बहुत सी जगहों पर इन सहकारी संस्थाओं का प्रदर्शन अच्छा नहीं रहा और इस क्षेत्र में व्यापक पैमाने पर भ्रष्टाचार की घुसपैठ भी हुई है। लेकिन इन सब वजहों से सहकारिता के मूल सिद्धांत को ख़ारिज

समाजवादी देशों में सहकारिता के तजुर्बे

समाजवादी देशों में सहकारी कार्यक्रमों का समृद्ध इतिहास रहा है। इन कार्यक्रमों की विस्तृत पड़ताल से कोऑपरेटिव्ज़ के काम करने के तौर-तरीकों के बारे में बेशकीमती समझ हासिल हो सकती है।

रूस के इंकलाब में मज़दूर-किसान एकता ने अहम भूमिका निभायी थी। इस एकजुटता के पीछे रूस में पहले से मौजूद रहे सामुदायिक ढाँचे जिन्हें 'मीर' कहा जाता था, उनकी बड़ी भूमिका रही है। सन् 1905 में ज़ार के खिलाफ़ हुए विद्रोह में और उसके बाद इंकलाब तक ये 'मीर' संगठित किसानों की राजनीतिक गतिविधियों के केन्द्र बने रहे। इंकलाब के तत्काल बाद लेनिन ने सोवियत संघ में भूमि सुधार लागू किये। लेनिन का नज़रिया था कि ग़रीब किसानों के कोऑपरेटिव बनाकर वहाँ समाजवाद की बुनियाद तैयार की जाएगी। लेकिन सोवियत संघ में ज़मीनों को इकट्ठा करने की कोशिशों के दौरान सरकार की ओर से सख्ती का भी इस्तेमाल किया गया और सरकारी स्वामित्व के खेत बनाने पर बहुत ज़्यादा ज़ोर दिया गया।

चीन में माओ ने सोवियत संघ का रास्ता न अपना कर किसानों को स्वेच्छा से सामुदायिक रूप से साथ में आने और कम्यून बनाने के लिए प्रोत्साहित किया। इसी प्रक्रिया के तहत ग़रीब किसानों के सहकारी उत्पादन संघ बनाये गए जिसमें ज़मीन, मवेशी और खेती के उपकरणों पर किसानों का व्यक्तिगत अधिकार बना रहता था और वे खेती साझा तौर पर करते थे। इन सहकारी संघों के सदस्यों द्वारा संसाधनों का साझा इस्तेमाल किया जाता था। इन कोऑपरेटिव्ज़ से जो मज़दूर अतिशेष के तौर पर निकले उन्हें चीन के ग्रामीण इलाकों में आधारभूत विकास परियोजनाओं में रोज़गार और ग्रामोद्योग को बढ़ावा दिया गया। इससे ग्रामीण चीन में करिश्माई तब्दीलियाँ आईं।

क्यूबा की समाजवादी सरकार ने निजी ज़मीनों के मालिकों को कोआपरेटिव बनाने के लिए लगातार समझाइशें दीं। नेशनल ब्रॉडकास्टिंग कॉर्पोरेशन पर सरकार ने ऐलान किया कि जब भी एक कोऑपरेटिव कहीं कायम होगा, उसके साथ एक स्कूल भी खुलेगा। सरकार ने छोटे किसानों के ऐसे संगठन बनाये जिनसे इस कार्यक्रम को आगे बढ़ाया जा सके। क्यूबा में कोऑपरेटिव कार्यक्रमों को जड़ें जमाने में और पुख्ता शक्ल हासिल करने में कई वर्ष लगे। सरकार ने किसानों को समझाइश देना और कोऑपरेटिव में शामिल होने के लिए विभिन्न प्रोत्साहन देना करीब 15 वर्षों तक जारी रखा।

वेनेजुएला में ह्यूगो चावेज़ ने 21वीं सदी के समाजवादी कार्यक्रम में सहकारी आंदोलन को ज़वरदस्त बढ़ावा दिया। वेनेजुएला के कोऑपरेटिव क्षेत्र

में 15 लाख से ज्यादा कर्मचारी काम करते हैं। उनके कृषि कोऑपरेटिव न्यूनतम 7 से 100 सदस्यों तक के होते हैं। फसलों के आधार पर कोऑपरेटिव का आकार तय किया जाता है। सरकार इन कोऑपरेटिव को कई तरह का समर्थन मुहैया कराती है। उसने इनके लिए विशेष बाज़ार खोले हैं जहाँ इनका सामान खरीदा जाता है। सरकार की ओर से इन कोऑपरेटिव को जैविक खाद, खेती के उपकरण दिये जाते हैं, ट्रैक्टर और बीज की सुविधा भी सरकार इन्हें देती है।

वेनेजुएला सरकार ने इस बारे में एक साफ़ स्थिति अपनाई है कि संसाधनों की सहकारी मालिकी भर पर्याप्त नहीं। उनका नज़रिया है कि कोऑपरेटिव का कामकाज मुनाफ़ा बढ़ाते जाने के उसूल पर आधारित नहीं होना चाहिये। वेनेजुएला के कोऑपरेटिव को सरकार से विशेष प्राथमिकता और खास तवज्जो हासिल होती है। जब वे वहाँ के समाज में एकजुटता, समानता और स्थायित्व को बढ़ावा देते हैं।

नहीं किया जा सकता। ज़रूरी यह है कि सहकारी संस्थाओं के भीतर पनपी ख़राबियों को दुरुस्त किया जाए, इन संस्थाओं पर क़ाबिज़ हो चुके स्थानीय प्रभावशाली तत्वों से इन्हें मुक्त किया जाए और एक ऐसे जनतांत्रिक तरीके से इनका संचालन हो जिसमें व्यापक ग्रामीण समुदाय की हिस्सेदारी तय हो सके।

महिला किसानों की कामयाब पहल

यहाँ हम आंध्र प्रदेश और केरल के कुछ ऐसे उदाहरणों का ज़िक्र करेंगे जिन्होंने ऐसी संभावनाओं को असलियत में ठोस शक्त दी है। उल्लेखनीय है कि सामूहिक खेती की ऐसी साझा कोशिशों की कामयाब मिसालें महिलाओं ने बनायी हैं। सन् 1989 से डेक्कन डेवलपमेंट सोसाइटी (डीडीएस) नाम की एक गैर-सरकारी संस्था की मदद से दलित महिलाओं ने आंध्र प्रदेश में साझा तौर पर लीज़ पर ज़मीन लेकर खेती की और विभिन्न सरकारी ऋण योजनाओं के ज़रिये साझा तौर पर ही ज़मीन ख़रीदकर भी खेती की। अब वहाँ 144 ऐसी महिलाएँ हैं जो संयुक्त रूप से लीज़ पर ज़मीन लेकर खेती करती हैं। ये महिलाएँ छोटे-छोटे 5 से 15 सदस्यों के समूह में ज़मीन लीज़ पर लेती हैं।

आंध्र प्रदेश के 26 गाँवों में ये महिलाएँ 211 एकड़ ज़मीन लीज़ पर लेकर खेती कर रही हैं। लीज़ का कुछ भाग समूह की सदस्यों द्वारा अदा किया जाता है और कुछ डीडीएस से ब्याजरहित कर्ज़ लेकर। इसी तरह से महिलाओं के अनेक समूहों ने 21 गाँवों में साझा तौर पर खेती के लिए ज़मीन ख़रीदी है। सरकार की ओर से उन्हें इस ख़रीदी के लिए ऋण सब्सिडी भी दी गई। आंध्र प्रदेश में ऐसी 436 महिलाओं ने समूह बनाकर 555 एकड़ ज़मीन ख़रीदी है।

केरल का तजुर्बा इससे कहीं ज़्यादा व्यापक और सीधे तौर पर केरल सरकार की पहल पर शुरू किया गया प्रयोग है। केरल सरकार के कुडुम्बश्री कार्यक्रम के तहत 46,444 समूह सामूहिक खेती के काम में जुटे हैं। हर समूह में कम से कम 4-5 और अधिकतम 10 सदस्य होते हैं। एक समूह को दी जाने वाली ज़मीन 0.5 एकड़ से 2.5 एकड़ के बीच होती है। इस कार्यक्रम के तहत महिलाएँ 68,175 एकड़ ज़मीन पर धान, सब्ज़ी, अनानास, टेपियोका आदि की खेती सामुहित तौर से कर रही हैं। जो ज़मीन इन महिलाओं के समूहों को खेती के लिए दी जाती है वो या तो सरकारी स्वामित्व की पड़ती या बंजर ज़मीन होती है या फिर सरकार निजी ज़मीन को लीज़ पर लेकर इन समूहों को देती है। ज़मीन देने के इस प्रोत्साहन से बंजर पड़ी ज़मीन को खेती योग्य बनाने में कामयाबी मिली है। इसी तरह अगर अनुमानित औसत उत्पादकता से अधिक का उत्पादन किया जाता है तो उन समूहों को भी प्रोत्साहन दिया जाता है।

ये सच है कि ये तजुर्बे देश के पैमाने पर बहुत छोटे हैं लेकिन इनसे इतना तो साबित होता ही है कि एकजुट होकर उत्पादन की गतिविधियों में लगने से इन ग़रीब महिला किसानों ने करिश्मा मुमकिन किया है। आज की स्थिति में बेशक इन छोटे तजुर्बों के आधार पर पूरे देश के लिए भूमिहीनों और ग़रीब किसानों के कोऑपरेटिव कायम करने का कार्यक्रम देश के स्तर पर सोचना शायद जल्दबाज़ी हो। फिर भी अगर किसान ऐसे किसी कार्यक्रम को अभियान के तौर पर अपनाते हैं, और राज्य पर इतना दबाव बनाने में कामयाब होते हैं कि राज्य

उन्हें सहयोग दे, तो इसमें हम एक आमूलचूल बदलाव वाली राजनीतिक कार्यवाही की असीम संभावनाओं को देख सकते हैं।

इस देश की कुल खेती की ज़मीन के 44 फ़ीसदी हिस्से पर सीमांत और छोटे किसान मौजूद हैं। अगर ये 44 फ़ीसदी खेती की ज़मीन साझा खेती के तहत आती है तो ज़मीन के इस्तेमाल के तौर-तरीके बदल सकते हैं, फसलें बदल सकती हैं, बाज़ार बदल सकते हैं और हमारे इस सपने को एक ठोस शक्ति दी जा सकती है कि एक शोषणविहीन दुनिया मुमकिन है।

★ ★ ★ ★ ★

हम यहाँ दो मौजूँ कविताएँ दे रहे हैं। पहली कविता ग़रीब और ज़मीन से बेदख़ल हुए किसान के दर्द को बयान करती है और दूसरी ये बताती है कि हालात बदले जा सकते हैं, और इन्हें बदल डालना ज़रूरी है।

इस बारिश में...

- नरेश सक्सेना

जिसके पास चली गई मेरी ज़मीन
उसी के पास अब मेरी
बारिश भी चली गई

अब जो घिरती हैं काली घटाएँ
उसी के लिये घिरती हैं
कूकती हैं कोयलें उसी के लिये
उसी के लिये उठती है
धरती के सीने से सौंधी सुगन्ध

अब नहीं
मेरे लिए हल नहीं, बैल नहीं
खेतों की गैल नहीं
एक हरी बूँद नहीं
तोते नहीं, ताल नहीं, नदी नहीं, आर्द्रा नक्षत्र नहीं
कजरी-मल्हार नहीं मेरे लिए

जिसकी नहीं कोई ज़मीन
उसका नहीं कोई आसमान

अगली फसल आते ही सब चुकता कर दूँगा
अब तो मेरी झूठी
यह गुज़ारिश भी चली गई

उसी के पास
अब मेरी बारिश भी चली गई
जिसके पास चली गई
मेरी ज़मीन

उल्म का दर्जी

- बर्टोल्ट ब्रेष्ट

पादरी से कहा दर्जी ने
मेरा यकीन करें आप, मैं वाकई उड़ सकता हूँ
आप देखना, जब मैं आपके सामने ही उड़ान भरूँगा।
और दर्जी अपनी बाहें फैलाए
उन पंख जैसी लगती चीज़ों को फैलाकर खड़ा हुआ
वो महान चर्च की छत पर था।
पादरी ने दर्जी को समझाया
ये बेवकूफी है
और ये बक-बक एक बेवकूफ़ाना झूठ भर है
कि इंसान उड़ सकता है
इंसान आख़िर इंसान है परिंदा नहीं
तमाशबीन लोगों ने पादरी से जाकर कहा
दर्जी वाकई परले दर्जे का अहमक था
उसने नाहक अपनी जान गँवाई
पंख जैसी लगती उसकी चीज़ें टूटी पड़ी थीं
और वो खुद चर्च के सख़्त फर्श पर बेतरतीब मरा पड़ा था
पादरी ने लोगों से कहा
मैंने पहले ही कहा था
इंसान आख़िर इंसान है, परिंदा नहीं
उसकी कोशिश बेवकूफी थी
उसका दावा बेवकूफ़ाना झूठ था
इंसान कभी नहीं उड़ सकता।

लेकिन इंसान ने उड़ान भरी...

उल्म जर्मनी का एक सदियों पुराना शहर है जो अपनी चर्च की ऊँची मीनारों के लिए भी जाना जाता है। ऐसा कहते हैं कि सोलहवीं शताब्दी में वहाँ एक दर्जी ने चर्च की बात को अनसुना कर उड़ने की कोशिश की थी और नाकाम रहा था। ब्रेष्ट ने बीसवीं सदी के मध्य में यह कविता लिखते हुए उस दर्जी को याद किया जिसने भले ही नाकाम होकर अपनी जान गँवायी लेकिन वो लोगों के लिये उड़ने का एक ख़्वाब छोड़ कर गया। उस दर्जी की मौत के चार शताब्दियों के बाद इंसानियत ने वाकई उड़ान भरी। न केवल शाब्दिक अर्थों में बल्कि शोषण और गुलामी के पिंजड़े से आज़ाद समाजवाद के आसमान में इंसानियत की उड़ान।

Reference

Assessment Survey of Farmers, NSS 59th round (January-December 2003)

Report 491 - Household ownership holdings in India

Report 492 - Some aspects of operational land holdings
in india

Report 493 - Livestock ownership across operational
land holding classes in India

Report 494 - Seasonal Variation in the operational land
holdings in India

Report 495 - Consumption expenditure of households

Report 496 - Some aspects of farming

Report 497 - Income, Expenditure & Productive assets
of Farmer households

Report 498 - Indebtedness of farmer households

Report 499 - Access to modern technology for farming.



इतिहास चाहे जिस करवट मुड़े, हम हताश नहीं होंगे।
लेकिन ये तय है कि हम इतिहास को हमारी सक्रिय
हिस्सेदारी के बगैर कोई भी मोड़ नहीं मुड़ने देंगे।

- लेनिन ('ज़मीन का सवाल और गाँव के ग़रीब लोग' लेख से)

